कहानी डॉक्टर साहब की

अरविंद यादव

notionpress.com
INDIA • SINGAPORE • MALAYSIA

Notion Press

Old No. 38, New No. 6
McNichols Road, Chetpet
Chennai - 600 031

First Published by Notion Press 2018
Copyright © Arvind Yadav 2018
All Rights Reserved.

ISBN 978-1-64324-153-1

This book has been published with all efforts taken to make the material error-free after the consent of the author. However, the author and the publisher do not assume and hereby disclaim any liability to any party for any loss, damage, or disruption caused by errors or omissions, whether such errors or omissions result from negligence, accident, or any other cause.

No part of this book may be used, reproduced in any manner whatsoever without written permission from the author, except in the case of brief quotations embodied in critical articles and reviews.

समर्पित

जिगरी दोस्त संदीप जैन को

संदीप जैन उद्यमी हैं।

वे लेखक के बालसखा हैं और बेहद क़रीबी भी।

विशेष धन्यवाद 'योरस्टोरी' की मुख्य कार्यकारी अधिकारी श्रद्धा शर्मा का, जिन्होंने महान डॉक्टरों की इन कहानियों को प्रकाशित करवाने के लिए अपनी ओर से पूरा सहयोग दिया। इस किताब में छपी सारी कहानियाँ 'योरस्टोरी' की हिंदी वेबसाइट पर प्रकाशित हो चुकी हैं। विद्वानों और शुभचिंतकों के सुझाव पर मैंने इन कहानियों को एक किताब के रूप में लाने का फ़ैसला किया।

अनुक्रमणिका

भूमिका. . . . . *ix*

दिल के डॉक्टर अक्षय कुमार बिसोई की कामयाबी की कहानी दिमाग़ के बंद रास्ते खोलने का माद्दा रखती है 1

दूसरों के दिल के दर्द को अपना समझता है दिल के डॉक्टर खलीलुल्लाह का दिल 20

इंसानी दिल जितनी दिलचस्प है दिल के डॉक्टर अशोक सेठ की कामयाबी की कहानी 34

माँ के कहने पर डॉक्टर बने चंद्रशेखर यादव माँ का इलाज तो नहीं कर पाये, लेकिन हज़ारों लोगों को दिलायी गठिया से मुक्ति 52

ग़रीबों के दिल को टूटने से बचाने की कोशिश में जुटे बड़े दिलवाले डॉक्टर का नाम है राकेश यादव 60

दिल की बात सुनकर दिल का डॉक्टर न बनने के फ़ैसले ने डॉ. अम्बरीश मित्थल को चिकित्सा-क्षेत्र में दिलायी विशिष्ट पहचान. 72

फ़ौलादी इरादों, मेहनत और अनुशासन ने बनाया है डॉ. संजीव बगई को विशेष, विशिष्ट और विवेकी डॉक्टर 86

बचपन से ही दिल बड़ा रहा है 20 हज़ार से ज़्यादा दिल के ऑपरेशन कर चुके डॉक्टर विजय दीक्षित का. 95

बचपन में घर के चूल्हे की आग से निकलती रोशनी में पढ़ाई करने वाले मूर्ति अब सर्जिकल लाइट में बच्चों की बीमारियों को कर रहे हैं दूर . . .100

पहले 'स्वीकार', फिर 'आश्रय', बाद में 'सुरक्षा' से मिला विकलांगों को नये जीवन का 'उपकार' 109

अपने दिल की आवाज़ सुनकर दिल के डॉक्टर बने संजय अग्रवाल ने साबित किया कि भीड़ से अलग चलने पर ही बनती है अलग पहचान . . .116

ऑपरेशन थिएटर की रोशनी में मस्तिष्क की सर्जरी करने वाले
डॉ. रंगनाथम कभी लालटेन की रोशनी में पढ़ाई करने को थे मजबूर . . .121

मरीज़ों के 'सौमित्र' हैं डॉ. रावत 128

भूमिका

मौत सबकी निश्चित है, एक दिन सबको मरना है। जिसकी ज़िंदगी है, उसकी मौत भी तय है। यह बात और है कि हर कोई मौत को टालने की कोशिशों में जुटा रहता है। हर कोई मौत से कन्नी काटकर निकलना चाहता है, पर यह संभव नहीं है। लेकिन कई बार लोग मौत के मुँह से निकलकर नयी ज़िंदगी शुरू कर पाते हैं। मौत को कुछ समय तक टालने, बेशक कुछ दिन, कुछ महीनों और कुछ वर्षों तक उसको दूर करने की अवस्था में जो हमें पहुँचाता है, उसी का नाम डॉक्टर है।

'डॉक्टर' किसी व्यक्ति के नाम के आगे लगने वाला सिर्फ़ एक पद नहीं है, उसकी शैक्षणिक योग्यता का बस परिचायक नहीं है, बल्कि सैंकड़ों लोगों की ज़िंदगी में नयी साँस और नयी ऊर्जा भरने वाली शक्ति का नाम है। पर अफ़सोस इस बात का है कि भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया के कई देशों में लोगों की ज़रूरतों के मुताबिक़ डॉक्टरों की संख्या काफ़ी कम है और यही वजह है कि लोगों के इलाज में कई डॉक्टर दिन-रात एक करने पर मजबूर हैं।

बड़ी बात यह है कि लोगों में नयी जान फूँकने वाले डॉक्टर भी आम इंसान ही हैं। हर इंसान की तरह ही वे भी मुश्किलों से गुज़रते, जूझते, टकराते और आगे बढ़ते रहते हैं। चूँकि हर डॉक्टर पहले एक आदमी है, जो इसी समाज, देश और दुनिया का हिस्सा है, इसलिए अपने निजी जीवन में उसकी भी समस्याएँ कम नहीं हैं। इतना ही नहीं, मरीज़ों का इलाज करते हुए डॉक्टरों को कई तरह की परेशानियों का सामना करना पड़ता है।

डॉक्टर बीमार लोगों का इलाज करते हैं, दवाइयों से या फिर ज़रूरत के मुताबिक़ शल्य-चिकित्सा यानी सर्जरी से। लेकिन यह बात भी सच है कि हर डॉक्टर भी इंसान है और वह भी बीमार हो सकता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि हर इंसान की तरह ही डॉक्टर की मौत भी निश्चित है।

चूँकि डॉक्टर भी इंसान ही है, उसकी ज़रूरतें, भावनाएँ, संवेदनाएँ, संघर्ष, सुख-दुख, सभी इंसान की तरह ही हैं। डॉक्टर की ज़िंदगी के कई सारे पहलू आम इंसान के जीवन के पहलुओं से मेल खाते हैं। हक़ीक़त तो यह भी है कि डॉक्टरों की अपनी अलग परेशानियाँ हैं और इन परेशानियों को समझना आसान भी नहीं है।

अस्पताल और ऑपरेशन थिएटर के बाहर भी डॉक्टरों की एक दुनिया है और यह दुनिया भी आम इंसान की तरह ही है। डॉक्टरों के भी घर हैं, परिवार हैं, रिश्तेदार हैं, दोस्त हैं, साथी हैं। इन सभी के प्रति डॉक्टरों की जिम्मेदारियाँ भी ठीक वैसे ही हैं, जैसे कि किसी आम इंसान की होती हैं।

सभी मानते हैं कि इंसानी ज़िंदगी इम्तिहान है, कइयों की ज़िंदगी में कई इम्तिहान हैं। लेकिन डॉक्टरी एक ऐसा पेशा है, जहाँ हर दिन हर डॉक्टर के लिए एक नहीं, कई इम्तिहान हैं। हर मरीज़ डॉक्टर के लिए एक इम्तिहान है। डॉक्टर इम्तिहान में कामयाब है, तो मरीज़ की हालत सुधरेगी और नाकामयाब है, तो मरीज़ की हालत बिगड़ेगी। हर मरीज़ डॉक्टर के सामने एक चुनौती पेश करता है।

कई मायनों में डॉक्टर महान है। डॉक्टर अपने अर्जित ज्ञान-विज्ञान, अनुभव, प्रतिभा से न सिर्फ़ मरीज़ का रोग दूर करता है, बल्कि परोक्ष रूप से उसके दुख और दर्द को भी दूर भगाता है।

महत्वपूर्ण बात यह भी है कि डॉक्टर बनना आसान नहीं है। हर कोई डॉक्टर नहीं बन सकता। भारत में डॉक्टर बनाने वाले संस्थान ज़्यादा नहीं हैं और इनमें भर्ती किये जाने वाले लोगों की संख्या भी सीमित और तय है। मेडिकल कॉलेज में जगह पाने के लिए ज़बरदस्त प्रतिस्पर्धा होती है। इस प्रतिस्पर्धा में कामयाबी हासिल करने के लिए विद्यार्थियों को कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। कड़ी मेहनत और तेज़ बुद्धि के बल पर मेडिकल कॉलेज में सीट मिल जाने के बाद भी मेहनत जारी रहती है। इंसानी शरीर के हर हिस्से और उनमें होने वाले विकारों और रोगों के बारे में अच्छे से समझना होता है। बीमारियों के इलाज के तौर-तरीक़े जानने पड़ते हैं। परीक्षाएँ देनी पड़ती हैं और डॉक्टरी पेशा अपनाने के लिए इन परीक्षाओं में पास भी होना पड़ता है। डॉक्टरी पढ़ाई के दौरान ही मरीज़ों का इलाज करने का सिलसिला शुरू हो जाता है और यह जीवन के साथ ही ख़त्म होता है। बड़ी बात यह भी है कि डॉक्टरों के लिए मरीज़ों का इलाज ही धर्म है और उन्हें सब कुछ त्यागकर मरीज़ों के इलाज में ख़ुद को समर्पित करना पड़ता है।

लेकिन डॉक्टरों का एक अलग पहलू भी लोगों के सामने आया है। कई डॉक्टरों पर आरोप लगता है कि वे व्यावसायिक हो गये हैं। कई डॉक्टरों ने उसूलों को ताक पर रख दिया है और इन्हें रोगियों के हित से ज़्यादा अपने हित की चिंता है।

डॉक्टरों के जीवन से जुड़े अलग-अलग पहलुओं को जानने-समझने के लिए मैंने देश-भर में कई डॉक्टरों से मुलाक़ात की। कई डॉक्टरों की कहानी उन्हीं की

ज़ुबानी सुनी। कहानियाँ सुनने के बाद एहसास हो गया कि हर डॉक्टर की कहानी दूसरे डॉक्टर से जुदा है। हर डॉक्टर की अपनी अलग दिलचस्प कहानी है। इन्हीं दिलचस्प कहानियों में सबसे ज़्यादा दिलचस्प और बेहद अनूठी कहानियों को 'कहानी डॉक्टर साहब की' नाम वाली किताबों की कड़ी में लाने का फ़ैसला लिया। यह किताब पहली कड़ी है और इसमें जिन डॉक्टरों की कहानियाँ हैं, उनमें अक्षय कुमार बिसोई, खलीलुल्लाह, अशोक सेठ, चंद्रशेखर यादव, राकेश यादव, संजीव बगई, विजय दीक्षित, पीवीएलएन मूर्ति, रंगनाथम, हनुमंत राव, संजय अग्रवाल और सौमित्र रावत शामिल हैं।

नवजात शिशु से लेकर सौ साल के बुज़ुर्ग का भी ऑपरेशन करने वाले अक्षय कुमार बिसोई बचपन में गाँव के खेतों में धान की फसल बोया करते थे। तालाब, नहर और नदी में मछलियाँ पकड़ा करते थे। दिल के डॉक्टरों की फ़ौज खड़ी करने वाले खलीलुल्लाह की स्कूली शिक्षा उर्दू माध्यम से हुई। अशोक सेठ को मेडिकल कॉलेज में दाख़िले के लिए काफ़ी मेहनत करनी पड़ी और तीन साल का लम्बा इंतज़ार भी। माँ के कहने पर डॉक्टर बने चंद्रशेखर यादव माँ का ही इलाज नहीं कर पाये। राकेश यादव की कहानी एक मध्यमवर्गीय परिवार के सपनों, संघर्षों और कामयाबियों की कहानी है। अम्बरीश मित्थल ने दिल की बात सुनकर दिल का डॉक्टर न बनने का फ़ैसला लिया था और इसी फ़ैसले की वजह से आज डॉक्टरों के समुदाय में उनकी बेहद ख़ास पहचान है। संजीव बगई को उनके फ़ौलादी इरादों, मेहनत और अनुशासन ने विशेष, विशिष्ट और विवेकी डॉक्टर बनाया है।

लोग विजय दीक्षित को भगवान मानते हैं, लेकिन वे ख़ुद को ऐसा कुछ नहीं समझते। वे कहते हैं, "जान मैं क्या बचा सकता हूँ? मैं न जान देने वाला हूँ, न लेने वाला। लोगों का स्वास्थ्य अच्छा रहे, कम से कम दिल के मामले में, मैं कुछ मदद कर सकता हूँ, तो करता हूँ। ये तो मरीज़ मानते हैं कि मैं जान बचाता हूँ। आजकल के मरीज़ डॉक्टर के प्रति इतने शुक्रगुज़ार हैं कि वे इस तरह की बातें कहते हैं और दूसरे लोग इन बातों को मानते भी हैं।" संजय अग्रवाल ने अपनी कामयाबियों और फ़ैसलों से साबित किया है कि भीड़ से अलग चलने पर ही अलग पहचान बनती है। कामयाबी की एक ख़ूबसूरत कहानी के नायक रंगनाथम ने बचपन में लालटेन की रोशनी में पढ़ाई की, तो पीवीएलएन मूर्ति ने घर के चूल्हे की आग से निकलती रोशनी में पढ़ाई की। हनुमंत राव डॉक्टर होने के साथ-साथ एक बड़े समाज-सेवी और परोपकारी इंसान हैं। सौमित्र रावत को मातृभूमि से इतना प्यार है कि इंग्लैंड में लोकप्रियता के शिखर पर होने के बावजूद देशवासियों की सेवा के लिए वे भारत लौट आये।

इन सभी डॉक्टरों की कहानियाँ कामयाबी की कहानियाँ हैं और इन कहानियों के ज़रिये डॉक्टरी जीवन के अलग-अलग रोचक पहलुओं को जानने में मदद मिलती है। कामयाबी की इन कहानियों में जीवन को सार्थक और सफल बनाने के मंत्र भी छिपे हुए हैं। उम्मीद है कि ये कहानियाँ आपको पसंद आएँगी और डॉक्टरों के संघर्षपूर्ण और चुनौतियों से भरे जीवन को समझने में आसानी होगी।

अरविंद यादव

20 जून, 2018

दिल के डॉक्टर अक्षय कुमार बिसोई की कामयाबी की कहानी दिमाग़ के बंद रास्ते खोलने का माद्दा रखती है

वैसे तो कामयाबी की हर कहानी अनोखी होती है, लेकिन दिल के डॉक्टर अक्षय कुमार बिसोई की कामयाबी की कहानी कई मायनों में अलग है। यक़ीन करना मुश्किल है, लेकिन बात सच है कि अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में ख़राब हुए दिलों का ऑपरेशन कर उन्हें ठीक कर रहे बिसोई बचपन में गाँव के खेतों में धान की फ़सल बोया करते थे। तालाब, नहर और नदी में मछलियाँ पकड़ा करते थे।

कई सारे नवजात शिशुओं के ख़राब दिल का ऑपरेशन कर उन्हें दुनिया में जीने का मौक़ा देने वाले बिसोई बचपन में इतना बीमार पड़ गये कि उनकी ज़िंदगी घर और अस्पताल के बीच में ही सिमट गयी थी। डॉक्टर जब अक्षय का इलाज नहीं कर पाये थे, तब माँ ने अपने इष्ट-देव का सहारा लिया और अपनी संतान को शिव-पार्वती के मंदिर में दान दे दिया था। दान देते समय माँ को इस बात का ज़रा-सा भी आभास नहीं था कि उनका बेटा बड़ा होकर डॉक्टर बनेगा और बच्चों के नाज़ुक दिल का भी ऑपरेशन कर उनकी जान बचाएगा। ए.के. बिसोई के नाम से मशहूर अक्षय कुमार बिसोई के जीवन की कई सारी घटनाएँ ऐसी हैं, जो कि किसी महान रचनाकार की अद्भुत कल्पना को भी अपने सामने फीका कर देने की ताक़त रखती हैं। अक्षय के जीवन में कई बार ऐसा समय भी आया, जब उनके मन में यह सवाल उठा कि वह जो कर रहे हैं, वह सही है या नहीं। इसी सवाल के जवाब की तलाश में उन्होंने अपना काम बीच में ही रोक दिया और अपने लिए सही काम की तलाश में निकल पड़े। इंजीनियरिंग की पढ़ाई बीच में रोकी, आईएएस

बनने की तैयारी शुरू की, लेकिन मन फिर कुछ और करने के लिए कहने लगा। जब डॉक्टरी की पढ़ाई पूरी की, तब इस सवाल ने परेशान किया कि फिज़िशियन बनना है या सर्जन। जब सर्जन बनने का फ़ैसला लिया, तब मन यह फ़ैसला नहीं ले पा रहा था कि शरीर के किस अंग की सर्जरी करने वाला विशेषज्ञ बनना चाहिए। असमंजस की स्थिति में दो महानुभावों ने अक्षय को उनकी असली ताक़त से परिचित करवाया। प्रोफ़ेसर अनादिकृष्ण पात्रा के कहने पर प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल से मिले अक्षय को अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में आकर अपनी ज़िंदगी के सही मक़सद के बारे में पता चला। प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल का शिष्य बनने के बाद अक्षय एक ऐसी बड़ी शख़्सियत बनकर उभरे, जो देश और दुनिया में अब अपनी क़ाबिलीयत, कामयाबी और प्रभाव के लिए जाने जाते हैं। अक्षय ने न सिर्फ़ इंसानी दिल से मोहब्बत की, बल्कि शल्य-चिकित्सा को अपना सबसे बड़ा कर्म और धर्म बना लिया। उन्होंने अपने आप को न सिर्फ़ दिल, छाती और रक्त-सम्वाहिनियों के ऑपरेशन तक सीमित रखा, बल्कि शोध और प्रयोग से जुड़े कामों में भी अपना जी-जान लगाया और अपनी कामयाबियों से चिकित्सा-क्षेत्र को समृद्ध व विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

अक्षय कुमार बिसोई की कहानी में कई सारी ऐसी बातें और घटनाएँ हैं, जो इंसान को कामयाबी का रास्ता दिखाती हैं। यह कहानी प्रेरणा देती है, अच्छा काम करने के लिए, ख़ुद की ताक़त को समझने और उसका सदुपयोग करने के लिए। पेश हैं डॉ. अक्षय कुमार बिसोई के जीवन से जुड़ी महत्वपूर्ण घटनाएँ, जिन्होंने उन्हें एक प्रभावशाली शख़्सियत बनाने और फिर उसी शख़्सियत को निखारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

बचपन में मौज़ थी, मस्ती भी, सुख था और आनंद भी, संघर्ष था और जोखिम भी, दर्द था और पीड़ा भी...अक्षय ने वह सब किया जो कि हर बालक को बचपन में करना चाहिए।

गाँव सुंदर होता है। वह गाँव और भी ज़्यादा सुंदर होता है, जो प्रकृति की गोद में होता है। जब गाँव के पास से होकर कोई नदी गुज़रती हो और आसपास की सारी ज़मीन उपजाऊ हो, तब उस गाँव की सुंदरता को चार चाँद लग जाते हैं। ऐसे ही बेहद सुंदर गाँव में अक्षय का जन्म हुआ।

अक्षय के गाँव का नाम है मालियतन और यह ओड़िशा राज्य के कटक ज़िले में पड़ता है। मालियतन गाँव से सिर्फ़ दो किलोमीटर दूर ही 'महानदी' बहती है। गाँव

के बिल्कुल पास से ही एक नहर भी होकर गुज़रती है। गाँव में एक तालाब भी है। गाँव से क़रीब 70 किलोमीटर की दूरी पर बंगाल की खाड़ी भी है, यानी समुंदर भी गाँव से ज़्यादा दूर नहीं है। मालियतन गाँव के आसपास खेत ही खेत हैं। गाँव में कई खलिहान भी हैं। कई सारे पेड़ हैं, अलग-अलग फलों के पेड़। नारियल के भी पेड़ हैं। बड़े-बड़े छायादार पेड़ भी हैं। गाँव के पास ही जंगल भी है और पहाड़ियाँ भी। प्रकृति की गोद में बसे इस गाँव में कई परिवार रहते हैं। गाँव में किसान हैं, कुम्हार हैं, मछुवारे हैं, नाई हैं, और भी बहुत से लोग हैं। ज़्यादातर लोगों की रोज़ी-रोटी खेती-बाड़ी से ही चलती है।

अक्षय के पिता महेंद्र बिसोई भी किसान थे। वैसे तो अक्षय का परिवार क्षत्रिय है और उनके पूर्वज किसी समय सेनानी हुआ करते थे, लेकिन बीच में राजा-रजवाड़ों की परंपरा ख़त्म होने के बाद अक्षय के पूर्वज अपनी गुज़र-बसर करने के लिए किसानी करने लगे थे।

अक्षय की माँ वासंती गृहिणी थीं। अक्षय के दो भाई हैं- एक बड़े और एक छोटे, यानी अक्षय मझले भाई हैं। अक्षय के दादा-दादी भी उन्हीं के साथ रहा करते थे।

अक्षय के पिता बड़े किसान या ज़मींदार नहीं थे। वे एक छोटे किसान थे। जितनी ज़मीन थी, उसी पर खेती-बाड़ी कर घर-परिवार चलाया करते थे। घर में गायें भी थीं। लेकिन ऐसा भी नहीं था कि घर में हर सुख-सुविधा थी। बड़ी मुश्किल से घर-परिवार की गुज़र-बसर होती थी। खेतों में मेहनत करने पर ही घर-परिवार की मूलभूत ज़रूरतें पूरी हो पाती थीं। मौसम की मार पड़ने पर बुरा हाल होता था।

वैसे भी ओड़िशा के तटीय इलाक़ों में मौसम की मार आम बात है। समुंदर के नज़दीक होने की वजह से तूफ़ान और तूफ़ानी बारिश का ख़तरा बना रहता है। कई बार तो ऐसा भी होता है कि लगातार कई दिनों तक बारिश होती है। मूसलाधार बारिश की वजह से नदी में बाढ़ आना भी आम बात है। बाढ़ की वजह से खेतों में पानी भर जाता है। कई बार तो भारी बारिश की वजह से कटाई के लिए तैयार फ़सल बर्बाद हो जाती है। फ़सल के बर्बाद होने का सीधा मतलब होता है, किसानों पर मुसीबतों का पहाड़ टूट पड़ना। बाढ़ की वजह से न सिर्फ़ खेत पानी में डूब जाते हैं और फसल बर्बाद होती है, बल्कि कई लोग बेघर हो जाते हैं।

साठ और सत्तर के दशक में गाँवों में ज़्यादातर मकान पक्के नहीं थे। बारिश थोड़ी तेज़ क्या हुई, कच्चे मकान और झोपड़ियाँ तबाह हो जाती थीं। लोगों को अपनी जान बचाने के लिए शहर की तरफ़ दौड़ लगानी पड़ती थी। अक्षय के परिवार को भी कई बार मौसम की मार झेलनी पड़ी थी। बाढ़ ने कई बार मेहनत की सारी

कमाई पर पानी फेरा था। अक्षय ने बताया कि बाढ़ के दिन सबसे ज़्यादा मुसीबत वाले दिन होते थे। सब कुछ पानी में डूबा होने की वजह से घर में चूल्हा नहीं जल पाता था। अगर चूल्हा जलाने लायक़ स्थिति बन भी जाती थी, तब तक सारा अन्न बारिश की भेंट चढ़ चुका होता। अक्षय और उनके परिवारवालों ने कई दिन भूखे पेट ही गुज़ारे थे। तरह-तरह की तकलीफ़ों के बावजूद माँ की यही कोशिश होती कि परिवारवालों, ख़ासतौर पर बच्चों, को कोई तकलीफ़ न हो। संकट और दुख की घड़ी में जब हर कोई हिम्मत हार जाता, तब भी माँ का साहस नहीं डगमगाता था। माँ अपनी जान पर खेल जातीं और बच्चों की जान बचा लेतीं।

माँ की हिम्मत और मेहनत ने अक्षय के मन-मस्तिष्क पर बहुत ही गहरी और कभी न मिटने वाली छाप छोड़ी है। अक्षय बताते हैं, "माँ हमसे कहती थीं कि ज़िंदा रहना है, तो ख़ुद ज़िंदगी का रास्ता ढूँढना होगा। किसी की मदद के इंतज़ार में मौत भी हो सकती है।" माँ का ही सबसे ज़्यादा प्रभाव अक्षय पर पड़ा था। वे कहते हैं, "माँ ने मुझे सिखाया था कि इंसान को हर चुनौती का सामना करना चाहिए। चुनौती से मुँह मोड़ना ग़लत बात है।" माँ की इन्हीं बातों का असर था कि अक्षय बचपन से ही चुनौतियों से बिल्कुल नहीं घबराये। चुनौती चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हो, वे उसका डटकर मुक़ाबला करते हैं।

बचपन में ग़रीबी की मार थी, भूखे पेट की आग थी, मौसम का कहर और इस कहर में जान जाने का ख़तरा था। लेकिन माँ की ममता, उनके स्नेह और प्यार, उनके साहस और साथ ने अक्षय ही नहीं, बल्कि सभी परिवारवालों को ज़िंदगी की हर मुश्किल का सामना करने को प्रेरित और प्रोत्साहित किया।

ग़रीबी के थपेड़ों और किसानी परिवार की मुश्किलों के बावजूद अक्षय ने एक ऐसा सुंदर और शानदार बचपन जीया कि उसकी यादें जीवन की सबसे मधुर, मोहक और मनोरम यादें बन गयीं।

अक्षय का जन्म साल 1963 में हुआ। उन दिनों गाँव शहरों की चकाचौंध और तेज़ रफ़्तार वाली ज़िंदगी से काफ़ी दूर थे। गाँव में न बिजली थी और न ही टीवी। एक मायने में शहरी-जीवन का साया भी कई गाँवों पर नहीं पड़ा था। और तो और, ओड़िशा की गिनती उन दिनों देश के सबसे पिछड़े राज्यों में हुआ करती थी। गाँवों में न सड़कें थीं, न बिजली थी, न अस्पताल थे। राज्य में कई जगह ग़रीबी का बोलबाला था और भुखमरी की घटनाएँ आम थीं। कई लोग दो जून की रोटी के लिए भी तरसते थे। अक्षय का गाँव भी ऐसा ही था। न बिलजी थी, न सड़क और

न ही अस्पताल। गाँव प्रकृति की गोद में था, नैसर्गिक सुंदरता देखते ही बनती थी, लेकिन ग़रीबी के निशान हर तरफ़ मौजूद थे। विपत्ति, दुख और दर्द की रेखाएँ लोगों के चेहरों पर साफ़ दिखायी देती थीं।

ग़रीबी भी अक्षय को एक सुंदर और मस्तीभरा बचपन जीने से नहीं रोक पायी। तरह-तरह की कठिनाइयों के बावजूद अक्षय अपने भाइयों और गाँव के दूसरों बच्चों के साथ ख़ूब खेला-कूदा करते थे। गाँव के तालाब में गोता लगाना, नहर और नदी में तैरना, अक्षय कभी भूल नहीं सकते। उन्होंने बचपन में अपने दोस्तों के साथ मिलकर तालाब, नहर और नदी से बहुत सारी मछलियाँ भी पकड़ी हैं। छोटी-उम्र में ही अक्षय ने खेती-बाड़ी का काम भी सीख लिया था। अक्षय अपने पिता के साथ खेत में जाते और वहाँ जुताई, बुआई और कटाई का काम भी करते। धान की फ़सल बोने में उन्हें बहुत मज़ा आता। अक्षय अपने घर की गायों को चराने भी ले जाते थे।

दिलचस्प बात यह थी कि अक्षय के नाना अपने तीनों नातियों को उनके जन्म-दिन पर एक-एक गाय भेंटस्वरूप दिया करते थे। इसी वजह से घर में तीनों बच्चों की अपनी-अपनी गायें थीं और अपनी-अपनी गायों की देखभाल करने की ज़िम्मेदारी भी उनकी अपनी-अपनी ही थी। यही वजह थी कि अक्षय भी अपनी गाय को चराने ख़ुद ले जाया करते थे। और भी दिलचस्प बात यह है कि एक नियम बनाया गया था, जिसके तहत बच्चे को अपनी गाय का ही दूध पीने को मिलता था। बड़ी ख़ुशी और गर्व के साथ अक्षय कहते हैं, “एक बच्चे को जो कुछ अपने बचपन में करना चाहिए, वह सब कुछ मैंने अपने बचपन में किया है।”

ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि अक्षय के गाँव मालियतन के पास ही सत्यभामापुर गाँव है और इसी गाँव में ‘उत्कल-गौरव’ के नाम से मशहूर हुए मधुसूधन दास का भी जन्म हुआ था। वे ओड़िया के मूर्धन्य साहित्यकार थे और ओड़िया आंदोलन के जनक भी। मधुसूधन दास की रचनाओं और उनके विचारों का भी काफ़ी प्रभाव अक्षय पर पड़ा।

पढ़ाई-लिखाई में हमेशा रहे अव्वल, लेकिन ‘ख़ुद की असली पहचान’ जानने के लिए ख़ुद से ही चलता रहा संघर्ष, प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल से मिलने के बाद पता चली ज़िंदगी की मंज़िल

खेल-कूद और मौज़-मस्ती के बावजूद अक्षय ने बचपन में पढ़ाई-लिखाई को हमेशा सबसे ज़्यादा अहमियत दी। छोटी-सी उम्र में ही वे यह बात अच्छी तरह से समझ गये थे कि अगर उन्हें ग़रीबी से नाता तोड़ना है, तो उन्हें ख़ूब पढ़ना होगा। वे

जान गये थे कि अच्छा पढ़-लिखकर परीक्षाओं में अच्छे नंबर लाने से ही उन्हें तगड़ी तनख़्वाह वाली नौकरी मिलेगी और नौकरी ही उनकी ग़रीबी को भी दूर करेगी।

अक्षय बचपन से ही तेज़ थे। उनका दाख़िला गोपीनाथपुर गाँव के सरकारी स्कूल में कराया गया। स्कूल घर-गाँव से एक किलोमीटर दूर था और अक्षय हर दिन पैदल ही स्कूल जाया-आया करते थे। सुबह 10 बजे स्कूल की पहली घंटी बजती थी और शाम 5 बजे स्कूल की छुट्टी हो जाती थी। स्कूल के दिनों में अक्षय अपने भाइयों के साथ हर दिन सुबह 6 बजे उठते थे और 9 बजे तक पढ़ाई करते। इसके बाद नहाकर सभी भाई भोजन करते और फिर स्कूल चले जाते। स्कूल से वापस घर आने के बाद भी शाम 6 से 9 बजे तक मन लगाकर पढ़ाई-लिखाई की जाती। फिर रात को भोजन किया जाता। भोजन के बाद सभी सो जाते। जितने दिन स्कूल चलता था, उतने दिन यही दिन-चर्या होती। छुट्टीवाले दिनों में अक्षय अपनी मर्ज़ी के मालिक हुआ करते थे।

पहली कक्षा से ही अक्षय ने हर परीक्षा में अच्छे नंबर लाये। ओड़िया मीडियम से स्कूली शिक्षा लेने वाले अक्षय ने दसवीं की परीक्षा भी शानदार नंबरों से पास की। दसवीं में मिले शानदार नंबरों के आधार पर अक्षय का दाख़िला ओड़िशा यूनिवर्सिटी ऑफ एग्रीकल्चर एंड टेक्नोलॉजी के कॉलेज ऑफ बेसिक साइंस एंड ह्यूमैनिटीज़ में हो गया। चूँकि अक्षय के रिश्तेदारों में कई सारे लोग इंजीनियर थे, माता-पिता की भी यही ख़्वाहिश थी कि अक्षय भी इंजीनियर ही बनें। अक्षय के बड़े भाई भी इंजीनियर बनने की राह पर ही चल पड़े थे। परिवारवालों के कहने पर अक्षय ने ग्यारहवीं और बारहवीं की पढ़ाई के लिए विज्ञान को ही अपना मुख्य विषय बनाया। बारहवीं की परीक्षा में अक्षय अव्वल रहे। पूरे विश्वविद्यालय में उनके ही नंबर सबसे ज़्यादा थे। इन्हीं नंबरों की बदौलत उन्हें इंजीनियरिंग कॉलेज में सीट मिल गयी। लेकिन अक्षय का मन इंजीनियरिंग की पढ़ाई में नहीं लगा। क़रीब छह महीने तक इंजीनियरिंग की पढ़ाई करने के बाद अक्षय ने ज़िंदगी में कुछ नया करने का फ़ैसला किया। उन्होंने अचानक एक ऐसा फ़ैसला लिया, जिसने सभी को हैरान कर दिया। अक्षय ने ऐलान कर दिया कि वे डॉक्टर बनेंगे। इंजीनियरिंग की पढ़ाई बीच में ही रोककर अक्षय मेडिकल कॉलेज में दाख़िले की योग्यता हासिल करने की कोशिश में जुट गये। उनकी यह कोशिश कामयाब भी रही। प्री-मेडिकल टेस्ट में मिले उम्दा नंबरों की वजह से उनका दाख़िला कटक के श्री रामचंद्र भंज मेडिकल कॉलेज में हो गया। इस कॉलेज से एमबीबीएस की डिग्री लेने के बाद अक्षय ने सर्जरी में एमएस की डिग्री ली। लेकिन इस दौरान भी वे अपने करियर को लेकर कई बार असमंजस की स्थिति में ही रहे। एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान उन्होंने जनरल मेडिसिन को

अपनी इंटर्नशिप का मुख्य विषय बनाया। लेकिन बाद में उन्हें लगा कि मेडिसिन उनका पसंदीदा विषय नहीं है और उन्होंने फिर सर्जरी में इंटर्नशिप की। एमबीबीएस की डिग्री लेने के बाद कुछ दिनों तक उनके मन पर सिविल सर्विसेज़ एग्जाम में पास होकर आईएएस अफ़सर बनने का जुनून भी सवार रहा। उन्होंने साइकोलॉजी और सोसीआलॉजी को अपना मुख्य विषय बनाया और सिविल सर्विसेज़ एग्जाम की तैयारी में जुट गये। काफ़ी माथापच्ची के बाद उन्होंने प्रशासनिक अधिकारी न बनकर डॉक्टर बनने का ही फ़ैसला लिया। एक समय ऐसा था, जब अक्षय को लगा कि ओड़िशा से ग़रीबी को दूर करने के लिए उन्हें प्रशासनिक अधिकारी बनना चाहिए। वे ओड़िशा में हर तरफ़ ग़रीबी से बहुत परेशान हो चुके थे। लेकिन उन्हें यह एहसास हुआ कि वे अकेले ओड़िशा की ग़रीबी को दूर नहीं कर सकते हैं। उन्हें फिर लगा कि वे डॉक्टर बनकर ज़्यादा लोगों की सेवा कर सकते हैं, न कि एक प्रशासनिक अधिकारी बनकर।

डॉक्टर बनने का फ़ैसला करने के बाद अक्षय ने कटक मेडिकल कॉलेज से सर्जरी में एमएस की पढ़ाई पूरी की। एमएस की डिग्री लेने के बाद भी दुविधा दूर नहीं हुई। इस बार नया सवाल सामने खड़ा था। जनरल सर्जन बनना या कार्डियोलॉजी को चुनना। इसी बीच उनका सिलेक्शन लखनऊ के संजय गांधी स्नातकोत्तर चिकित्सा-संस्थान में हो गया। कुछ दिनों तक वहाँ काम करने के बाद अक्षय दिल्ली आ गये। दिल्ली के गोविंदवल्लभ पंत अस्पताल से उन्होंने एम.सीएच. की डिग्री ली। उन्होंने कुछ समय के लिए बत्रा अस्पताल में भी काम किया। लेकिन दुविधा बनी रही। इस दुविधा से निकलने में कटक मेडिकल कॉलेज के प्रोफ़ेसर अनादिकृष्ण पात्रा ने उनकी मदद की। अक्षय के लिए प्रोफ़ेसर अनादिकृष्ण पात्रा पिता-तुल्य होने के साथ-साथ उनके सबसे प्रिय गुरु और मार्ग-दर्शक थे। प्रोफ़ेसर पात्रा ने अक्षय को अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में प्रोफ़ेसर पी. वेणुगोपाल से मिलने और उनसे हार्ट ऑपरेशन यानी इंसानी दिल का ऑपरेशन करने की प्रक्रिया को सीखने की सलाह दी। इस सलाह को मानकर अक्षय एम्स आ गये। पी. वेणुगोपाल और अनादिकृष्ण पात्रा दोनों चंडीगढ़ के स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षा एवं अनुसंधान संस्थान में सहपाठी और साथी थे।

अक्षय ने एम्स में प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल और दूसरे विद्वानों से दिल के ऑपरेशन के तौर-तरीक़े सीखे और दिल का ऑपरेशन करने वाले सर्जन बन गये। 31 अगस्त, 1994 को अक्षय की एम्स में ट्रेनिंग ख़त्म हुई थी और अपने गुरु प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल के कहने पर अगले ही दिन यानी 1 सितम्बर, 1994 को वे एम्स में फैकल्टी बन गये। तब से लेकर आजतक वे एम्स में ही अपनी सेवाएँ प्रदान कर रहे हैं।

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में काम करते हुए हासिल की बड़ी और अभूतपूर्व कामयाबियाँ, लिखी कामयाबी की शानदार और बेमिसाल कहानी

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में पिछले बीस सालों से काम करते हुए अक्षय ने 28 हज़ार से ज़्यादा ऑपरेशन किये हैं। इन ऑपरेशनों में दिल, छाती/वक्ष और नाड़ी/रक्त कोष्ठक से जुड़े ऑपरेशन शामिल हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अक्षय ने अब तक के अपने डॉक्टरी जीवन में नवजात शिशु से लेकर 100 साल के बुज़ुर्ग का भी ऑपरेशन किया है। इतना ही नहीं, वे 900 ग्राम के वज़न वाले शिशु से लेकर 167 किलो वज़न वाले एक प्रौढ़ इंसान का भी ऑपरेशन कर चुके हैं। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि अक्षय ने जटिल से जटिलतम मामलों को अपने अनुभव और अपनी क़ाबिलीयत के आधार पर ऑपरेशन यानी शल्य-चिकित्सा के ज़रिये आसानी से सुलझाया है। इस बात में कोई दो राय नहीं है कि एम्स जैसे भारत के सबसे बड़े और व्यस्त चिकित्सा-संस्थान में कार्यरत होने की वजह से उनके सामने ऐसे मामले ही आते हैं, जिनका निदान भारत में कहीं और संभव नहीं होता।

अक्षय ने तीन ऑपरेशन ऐसे भी किये हैं, जहाँ शिशुओं का दिल उनके शरीर से बाहर था। माँ के गर्भ में शिशु के विकास-क्रम में कुछ गड़बड़ी आ जाने की वजह से इन शिशुओं में उनका दिल शरीर में सही जगह पर न जाकर शरीर के बाहर आ गया था। ऐसे मामलों में शिशु का ऑपरेशन जल्द से जल्द यानी फ़ौरी तौर पर करना ज़रूरी होता है, वरना शिशु की जान जा सकती है। बच्चों के शरीर के बाहर रहने वाले दिल को वापस उसकी सही जगह पर रखने का ऑपरेशन आमतौर पर भारत में कहीं भी नहीं किया जाता है। यह ऑपरेशन काफ़ी जटिल होता है और इसे करने के लिए विशेष प्रशिक्षण और अनुभव की आवश्यकता होती है। इस तरह के जटिल और जोखिम-भरे ऑपरेशन करने के लिए विशेष प्रशिक्षण और अनुभव के साथ-साथ साहस और विश्वास से भरा एक दिल का भी डॉक्टर के पास होना ज़रूरी है और ऐसा ही मज़बूत, शक्तिशाली, अनुभवी दिल अक्षय के पास है। अक्षय ने तीन ऐसे ऑपरेशन किये हैं। तीनों ऑपरेशन कामयाब रहे। लेकिन ऑपरेशन के 23 दिनों बाद एक शिशु की मृत्यु हो गयी थी। बाक़ी दोनों शिशु अब बड़े हो चुके हैं और सामान्य बच्चों की तरह जी रहे हैं।

दिल के डॉक्टरों में अक्षय की ख़ास पहचान की एक वजह दिल की बाईपास सर्जरी भी है। बाईपास सर्जरी में महारत हासिल कर चुके अक्षय ने हज़ारों मरीज़ों का इलाज इस शल्य-चिकित्सा पद्धति से किया है।

अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान परिसर में उनके निवास पर हुई एक बेहद ख़ास मुलाक़ात के दौरान अक्षय ने कहा, "जिस इंसान की तबीयत ठीक नहीं होती, वही इंसान अस्पताल आता है। स्वस्थ इंसान अस्पताल नहीं आते। और मेरे पास जितने मामले ऑपरेशन के लिए आते हैं, उनमें से ज़्यादातर मामले ऐसे होते हैं, जहाँ मरीज़ ने ज़िंदा रहने की उम्मीद छोड़ दी होती है। मेरे पास ज़्यादातर मरीज़ दिल के मरीज़ होते हैं और इन मरीज़ों को ऐसा लगने लगता है कि वे अब मौत के बहुत क़रीब हैं। ऐसी हालत में मुझे मरीज़ का ऑपरेशन करना पड़ता है। यानी मुझे मरीज़ को मृत्यु से दूर करने का काम करना पड़ता है। इसी वजह से मेरे लिए हर मामला एक जैसा होता है। मेरे लिए हर मामला जटिल है और महत्वपूर्ण भी, क्योंकि यहाँ मामला मौत और जीवन के बीच का है। ऑपरेशन सही समय पर, सही तरीक़े से हुआ, तो ज़िंदगी है, वरना मौत है।"

बातचीत के दौरान अक्षय ने यह बात स्वीकार की कि नवजात शिशुओं का ऑपरेशन करना सबसे जटिल और चुनौती-भरा काम होता है। वे कहते हैं, "जिस माता-पिता की एक ही संतान है, उस संतान का ऑपरेशन करना मेरे लिए सबसे चुनौती-भरा काम होता है।" अक्षय ये भी कहते हैं, "हर इंसान की ज़िंदगी महत्वपूर्ण होती है। और हर इंसान की एक ही ज़िंदगी होती है। अगर मेरा ऑपरेशन कामयाब रहा, तो ज़िंदगी है और अगर कुछ गड़बड़ हुई, तो ज़िंदगी नहीं है। ज़िंदगी और मौत के बीच जब मेरा ऑपरेशन आ जाता है, तब मेरे लिए हर मामला इम्पोर्टेन्ट बन जाता है। एव्री लाइफ इज़ प्रेशियस। एव्री लाइफ नीड्स टू बी प्रीज़र्व्ड, प्रोटेक्टेड एंड प्रमोटेड।"

ज़हन में हमेशा ताज़ा रहेंगी पहले ऑपरेशन की यादें...ख़ुद ऑपरेशन करने का साहसी फ़ैसला लिया था अक्षय ने

अक्षय ने अपने जीवन में हज़ारों लोगों की शल्य-चिकित्सा की है। कई मामले उनके ज़हन में अब भी ताज़ा है और कई मामले वे भूल गये हैं। लेकिन एक मामला ऐसा है, जिसे वे कभी नहीं भूल सकते हैं और यह मामला है उनकी पहली बाईपास सर्जरी का।

अक्षय एम्स में जब एम.सीएच. की पढ़ाई कर रहे थे, तभी उन्होंने अपनी पहली बाईपास सर्जरी कर दी थी। हुआ यूँ था कि दिल का ऑपरेशन करवाने के लिए चार साल के एक बच्चे को एम्स लाया गया था। हरियाणा के फरीदाबाद में रहने वाले इस बच्चे के दिल में छेद था और इस छेद को बंद करने के लिए डॉक्टरों ने बाईपास

सर्जरी करने का फ़ैसला लिया। सर्जरी के लिए तारीख़ और समय तय किया गया था। यह तय हुआ था कि प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल उस बच्चे की सर्जरी करेंगे। ऑपरेशन थिएटर में सर्जरी की सारी तैयारियाँ पूरी कर ली गयी थीं। प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल के आने का इंतज़ार था। वेणुगोपाल दूसरे ऑपरेशन थिएटर में दूसरी सर्जरी कर रहे थे। वहाँ मौजूद अक्षय ने एनेस्थेटिस्ट से जाकर यह पता लगाने को कहा कि प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल कितनी देर में आएँगे। एनेस्थेटिस्ट ने प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल से मिलकर आने के बाद बताया कि उन्हें आने में देर होगी। इसी बीच अक्षय ने एक बड़ा फ़ैसला लिया। फ़ैसला था, ख़ुद ही बच्चे का ऑपरेशन करने का। उस समय ऑपरेशन थिएटर में सर्जरी के लिए मौजूद सभी लोग यानी एनेस्थेटिस्ट, नर्स आदि मौजूद थे। इन सभी की मदद से अक्षय ने बाईपास सर्जरी करनी शुरू की। सर्जरी कामयाब भी रही। सर्जरी पूरी होने के कुछ समय बाद प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल ऑपरेशन थिएटर आये और कहा - चलिए सर्जरी शुरू करते हैं। तब अक्षय ने बताया कि सर्जरी को चुकी है। यह जवाब सुनकर प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल ने पूछा - जब सर्जरी कर ली गयी है, तब फिर मुझे क्यों बुलवाया गया है। इस सवाल के जवाब में अक्षय ने कहा - कोई चाहिए था, जो कि इसका प्रमाण दे कि सर्जरी कामयाब रही है। अपने शिष्य का यह जवाब सुनकर प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल बहुत ख़ुश हुए। अपनी इस पहली सर्जरी के बाद अक्षय लगातार सर्जरी करते ही चले गये। सर्जरी करने का सिलसिला अब भी बदस्तूर जारी है।

अप्रैल, 2017 तक 28 हज़ार से ज़्यादा शल्य-चिकित्सा कर चुके अक्षय के मुताबिक़, किसी भी सर्जरी को कामयाब बनाने के लिए चार चीज़ों की ज़रूरत होती है। पहली - सर्जन को अपनी ज़िम्मेदारी का एहसास होना चाहिए। दूसरी - सर्जन को अपनी ज़िम्मेदारी अपने हाथों में लेनी चाहिए। तीसरी - सर्जरी के लिए ज़रूरी सक्षम, अनुभवी और प्रभावी टीम होनी चाहिए। चौथी-मरीज़ की सुरक्षा और उसका कल्याण सबसे पहली प्राथमिकता होनी चाहिए। अगर ये चार चीज़ें हों, तो सर्जरी कामयाब होती है।

अक्षय का यह भी कहना है कि हर सर्जन को ख़ुद पर भरोसा होना चाहिए। ख़ुद पर भरोसे के साथ-साथ एक सर्जन को अपनी टीम के सभी सदस्यों पर भी भरोसा होना चाहिए। सर्जन अकेला सर्जरी नहीं कर सकता। एक टीम सर्जरी करती है और इस टीम का मुखिया सर्जन होता है। किसी भी सर्जन को यह नहीं समझना चाहिए कि सिर्फ़ उसी की वजह से सर्जरी हो रही है और सर्जरी में वही सब कुछ है। टीम में सही तालमेल का होना बहुत ज़रूरी है। सर्जरी को कामयाब करने के लिए सही प्लानिंग भी काफ़ी ज़रूरी होती है। बिना सही प्लानिंग के किसी भी सर्जरी को

कामयाब नहीं बनाया जा सकता। अक्षय ज़ोर देकर बार-बार ये कहते हैं कि सर्जन को यह कभी भी नहीं भूलना चाहिए कि सर्जरी का मक़सद मरीज़ को बेहतर हालत में अस्पताल से उसके घर भेजना है। अक्षय कहते हैं, "हर डॉक्टर को मरीज़ की भलाई के लिए काम करना चाहिए, न कि ख़ुद की भलाई के लिए। मरीज़ की भलाई में ही डॉक्टर की भलाई होनी चाहिए। हर सर्जन के लिए हर मामला महत्वपूर्ण होना चाहिए, क्योंकि डॉक्टर को सर्जरी के लिए दूसरे मरीज़ मिल सकते हैं, लेकिन सर्जरी फेल होने पर मरीज़ को दूसरी जान नहीं मिल सकती है।"

गुरु, मार्ग-दर्शक, प्रेरणास्रोत, सलाहकार...अक्षय के लिए बहुत कुछ हैं प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल और प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल के प्रिय शिष्य भी अक्षय ही हैं

डॉ. पन्नगिपल्ली वेणुगोपाल को भारत में दिल के ऑपरेशन का प्रवर्तक माना जाता है। वेणुगोपाल ने ही भारत में इंसानी दिल का पहला सफल प्रत्यारोपण किया। इतना ही नहीं, उन्होंने ही भारत में 'स्टेम सेल थेरेपी' की भी शुरुआत की। भारत में दिल की बीमारियों के इलाज के लिए शल्य-चिकित्सा को नया आयाम प्रदान करने में भी उनकी भूमिका काफ़ी महत्वपूर्ण रही है। वेणुगोपाल ने एम्स से ही एमबीबीएस और एमएस (सर्जरी) की पढ़ाई की। इसके बाद उन्होंने यहीं से एम.सीएच. (हृदय-वक्ष शल्य-चिकित्सा) की भी डिग्री ली। इसके बाद वे एम्स में ही फैकल्टी का हिस्सा बन गये।

अक्षय के गुरु अनादिकृष्ण पात्रा और वेणुगोपाल, दोनों ने चंडीगढ़ के स्नातकोत्तर चिकित्सा शिक्षा एवं अनुसंधान संस्थान में साथ काम किया था। और जब अक्षय यह फ़ैसला नहीं कर पा रहे थे कि उन्हें डॉक्टरी की दुनिया में क्या करना है, तब अनादिकृष्ण पात्रा ने ही अक्षय को प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल के पास जाने और उनसे दिल के ऑपरेशन के तौर-तरीक़ों को सीखने की सलाह दी थी।

अक्षय की वेणुगोपाल से मुलाक़ात क्या हुई, उन्हें उनके जीवन की मंज़िल मिल गयी। वेणुगोपाल के प्रभाव में अक्षय ने फ़ैसला कर लिया कि वे भी दिल का ऑपरेशन करने वाला डॉक्टर बनेंगे। वेणुगोपाल न सिर्फ़ अक्षय के गुरु बने, बल्कि उनके प्रेरणास्रोत भी बन गये।

वेणुगोपाल और अक्षय की जोड़ी यानी गुरु-शिष्य की जोड़ी ने मिलकर भारतीय चिकित्सा-क्षेत्र में एक नये इतिहास की रचना की। दोनों ने मिलकर भारत में कई ऐसे शानदार काम किये, जो कि भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर में पहले नहीं किये गये थे।

अक्षय के लिए सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण बात यह रही कि जब वेणुगोपाल को अपने ख़ुद के दिल का ऑपरेशन करवाने की ज़रूरत पड़ी, तब उन्होंने इस ऑपरेशन के लिए किसी और को नहीं, बल्कि अक्षय को चुना। इस बात से साफ़ था कि देश के सबसे मशहूर कार्डियक-सर्जन को भी अक्षय की ही क़ाबिलीयत पर सबसे ज़्यादा भरोसा था। अपने गुरु के दिल का सफल ऑपरेशन करने को अक्षय अपने जीवन की अब तक की सबसे बड़ी कामयाबियों में से एक गिनाते हैं।

अक्षय अपने दोनों गुरुओं - अनादिकृष्ण पात्रा और वेणुगोपाल को अपने पिता महेंद्र बिसोई के समान सम्मान देते हैं और उन्हें पिता-तुल्य मानते हैं। अक्षय कहते हैं, "मैं डॉ. वेणुगोपाल से उस समय मिला था, जब मैं ये जानने की कोशिश में था कि मैं कौन हूँ? मैं क्या कर सकता हूँ? मेरे जीवन का मक़सद क्या होना चाहिए? उन दिनों मैं तरह-तरह के प्रयोग कर रहा था। सारे प्रयोग मैं ख़ुद पर ही कर रहा था। लेकिन अपने सवालों का जवाब नहीं ढूँढ पा रहा था। जब मैं डॉ. वेणुगोपाल से मिला, तब मुझे एहसास हुआ कि अब मुझे मेरे सवालों का जवाब मिल जाएगा और ऐसा ही हुआ।"

अक्षय से ही अपने बच्चों को ऑपरेशन करवाने के लिए जब अभिभावकों ने कोर्ट में लगायी थी गुहार

अक्षय के जीवन से जुड़ी कई घटनाएँ बेहद रोचक हैं। एक ऐसी ही घटना है, जब कुछ बीमार बच्चों के अभिभावकों ने अपने बच्चों की सर्जरी अक्षय से ही करवाने की माँग को लेकर दिल्ली हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश का दरवाज़ा खटखटाया था। हुआ यूँ था कि प्रोफ़ेसर वेणुगोपाल की अगुवाई में अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान को पूर्ण स्वायत्तता देने की माँग को लेकर आंदोलन शुरू किया गया था। इसी आंदोलन में सक्रिय भागीदारी निभाने की वजह से अक्षय को भी एम्स से निलंबित कर दिया गया। एक आदेश जारी कर उनके एम्स परिसर में आने पर पाबंदी लगा दी गयी थी। अक्षय के निलंबन की वजह से उन दिनों दिल की बीमारियों से परेशान कई शिशुओं का ऑपरेशन टल गया था। ऑपरेशन टल जाने की वजह से इन शिशुओं और बच्चों की जान ख़तरे में पड़ गयी थी। बड़ी बात यह है कि एम्स में शिशुओं का 'आर्टीरियल स्विच ऑपरेशन' सिर्फ़ अक्षय ही किया करते थे। वे ही इस 'ओपन हार्ट सर्जरी' की प्रक्रिया के विशेषज्ञ थे। रेखा नाम की एक लड़की की माँ ने दिल्ली हाई कोर्ट के मुख्य न्यायाधीश से यह कहते हुए गुहार लगायी कि उनकी बच्ची की जान बचाने के लिए अक्षय को ऑपरेशन करने की इजाज़त दी जाय। मुख्य न्यायाधीश ए.पी. शाह वाली एक पीठ ने रेखा

की माँ की याचिका की सुनवाई की और एम्स के निदेशक और दूसरे अधिकारियों को तलब कर जवाब देने को कहा। पीठ ने यह जानना चाहा कि शिशुओं के दिल का ऑपरेशन कौन डॉक्टर सही तरह से कर सकता है। पीठ को जवाब मिला था - अक्षय। फिर क्या था, सारी सुनवाई के बाद न्यायाधीश शाह वाली पीठ ने कहा कि उनके लिए शिशुओं की जान बचाना प्राथमिकता है। इसी वजह से पीठ/कोर्ट ने निलंबन के बावजूद अक्षय को शिशुओं के दिल का ऑपरेशन करने की इजाज़त दी थी। इस मामले की देश-भर में चर्चा हुई और कई लोग यह जान गये कि अक्षय ही बच्चों के दिल का ऑपरेशन करने में महारत रखने वाले देश के नंबर एक डॉक्टर हैं।

डॉ. वेणुगोपाल के साथ जुड़कर हासिल की नायाब कामयाबियाँ

1. भारत में पहला सफल हृदय-प्रत्यारोपण

डॉ. वेणुगोपाल की टीम का महत्वपूर्ण हिस्सा बनकर अक्षय ने कई सारी नायाब कामयाबियाँ हासिल की हैं। इनमें से सबसे बड़ी कामयाबी - भारत में पहली बार सफलतापूर्वक इंसानी दिल का प्रत्यारोपण किया जाना है। साल 1994 में डॉ. वेणुगोपाल के नेतृत्व में एक टीम ने दिल का सफल प्रत्यारोपण किया। 3 अगस्त, 1994 को भारत में उस समय एक नया इतिहास रचा गया, जब डॉ. वेणुगोपाल ने 20 सर्जनों की मदद से भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में भारत का पहला हृदय-प्रत्यारोपण किया। इससे पहले भारत में कभी भी सफलतापूर्वक हृदय-प्रत्यारोपण नहीं किया गया था। भारत के मरीज़ अपने दिल का प्रत्यारोपण करवाने के लिए विदेश जाया करते थे। डॉ. वेणुगोपाल की टीम की कामयाबी के बाद भारत में भी हृदय-प्रत्यारोपण का सिलसिला शुरू हुआ। बड़ी बात यह भी है कि इस नायाब कामयाबी के लिए भारत सरकार ने डॉ. वेणुगोपाल को सम्मानित भी किया। भारतीय संसद में भी इस कामयाबी के लिए डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम की प्रशंसा की गयी। एयर इंडिया ने वेणुगोपाल को जीवन-भर अपने विमानों में भारत-भर में कहीं भी मुफ़्त में यात्रा करने की सुविधा प्रदान की। डॉ. वेणुगोपाल की टीम में अक्षय की भूमिका भी काफ़ी महत्वपूर्ण थी।

2. अंग पुनः स्थापन बैंकिंग संस्था की स्थापना

डॉ. वेणुगोपाल, अक्षय और दूसरे डॉक्टरों की मेहनत और पहल का ही नतीजा है कि भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान, नयी दिल्ली में अंग पुनः स्थापन बैंकिंग संस्था की स्थापना हो पायी। इस संस्था को स्थापित करने का मक़सद भारत में अंग दान को

प्रोत्साहित करना, इंसान के अलग-अलग अंगों का सही और समान वितरण/संरक्षण और इस्तेमाल था। इससे पहले भारत में 'ब्रेनडेड' व्यक्तियों के अंगों को लेने और उन्हें सही तरह से संरक्षित करने और दूसरे लोगों में इन अंगों का प्रत्यारोपण कर लोगों की जान बचाने का कोई प्रभावी तरीक़ा नहीं था। अंग पुनः स्थापन बैंकिंग संस्था की वजह से भारत में ऑर्गन डोनेशन को बढ़ावा मिला और इससे अंग प्रत्यारोपण की एक मज़बूत व्यवस्था भारत में बन पायी। कई सारे सरकारी और निजी चिकित्सा संस्थानों ने भी अंग पुनः स्थापन बैंकिंग संस्था की तरह ही अपने यहाँ भी संस्थाएँ खोलीं और उन्हीं संस्थाओं की वजह से अलग-अलग अंगों का प्रत्यारोपण भी भारत में शुरू हो पाया।

3. भारत में शल्य-चिकित्सा का दायरा बढ़ा

डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम ने भारत में शल्य-चिकित्सा के दायरे को भी विस्तार दिया। पहले भारत में बच्चों की छाती में होने वाले कैंसर का इलाज नहीं किया जाता था। ऐसा माना जाता था कि छाती से कैंसर को निकालने के दौरान दिल पर बुरा असर पड़ता है और मरीज़ की जान जाने का ख़तरा होता है। लेकिन डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम ने मिलकर बच्चों में छाती से कैंसर निकालने के लिए भी सर्जरी करना शुरू किया। इससे भारत में कई बच्चों की जान बचायी जाने लगी।

नब्बे के दशक से पहले भारत में नवजात शिशुओं में होने वाले 'ट्रैन्स्पज़िशन ऑफ ग्रेट आर्टरीज़' नामक दिल की बीमारी का भी इलाज नहीं किया जाता था। डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम ने मिलकर दिल की इस बीमारी को शल्य-चिकित्सा के ज़रिये दूर करना शुरू किया। होता यूँ था कि बच्चे के जन्म के कुछ ही घंटों में इस बीमारी का इलाज शल्य-चिकित्सा के ज़रिये न किये जाने से शिशु की मौत हो जाती थी। कई बार तो ऐसा होता है कि अभिभावकों को इस बात का पता ही नहीं लगता कि उनकी संतान को 'ट्रैन्स्पज़िशन ऑफ ग्रेट आर्टरीज़' बीमारी है। जब तक अभिभावकों को बीमारी का पता लगता है, तब तक शिशु को बचाना नामुमकिन हो जाता है। डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम ने यह व्यवस्था की कि जन्म के समय ही इस बात का पता लग जाय कि शिशु का हृदय स्वस्थ है या नहीं, या फिर उसे 'ट्रैन्स्पज़िशन ऑफ ग्रेट आर्टरीज़' जैसी कोई बीमारी है। डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम ने न केवल 'ट्रैन्स्पज़िशन ऑफ ग्रेट आर्टरीज़' का इलाज शल्य-चिकित्सा के ज़रिये करना शुरू किया, बल्कि अपनी तकनीकों से यह भी सुनिश्चित करवाया कि इस बीमारी से निजात के लिए जन्म के तुरंत बाद ही शल्य-चिकित्सा करना ज़रूरी नहीं है। इस बीमारी का पता लगने के बाद 2 माह से लेकर 9 साल तक की उम्र

के बच्चे की शल्य-चिकित्सा कर उसे इस बीमारी से मुक्ति दिलायी जा सकती है। भारत में इस बीमारी का इलाज शुरू होने के बाद विदेशों से कई सारे मरीज़ अपना इलाज करवाने भारत आने लगे।

डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम ने इसी तरह की शल्य-चिकित्सा के ज़रिये दिल से जुड़ी कई बीमारियों का इलाज भारत में मुमकिन करवाया। इसका नतीजा यह हुआ कि इलाज के लिए भारतीयों का विदेश जाना बंद हुआ और उल्टे इलाज करवाने के लिए कई विदेशी भारत आने लगे।

4. इंटीग्रेटेड प्रैक्टिस यूनिट की स्थापना और लाइलाज समझे जाने वाली बीमारियों से निजात

नब्बे के दशक से पहले होता यह था कि अगर कोई मरीज़ अपनी किसी बीमारी के इलाज के लिए किसी डॉक्टर या सर्जन या विशेषज्ञ के पास जाता था और वह सर्जन या डॉक्टर या विशेषज्ञ सभी तरह की जाँच के बाद यह कह देता था कि इस बीमारी का इलाज नहीं हो सकता, तब यह मान लिया जाता था कि वाकई इलाज नहीं हो सकता। ऐसे में कई बार होता था कि इलाज मुमकिन था, लेकिन वह हो नहीं पाता था। इलाज किसी एक स्पेशलाइजेशन के डॉक्टर से संभव नहीं था, लेकिन दो, तीन या उससे ज़्यादा स्पेशलाइजेशन वाले डॉक्टर मिलकर उस मरीज़ का इलाज कर सकते थे। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम ने एक ऐसी व्यवस्था स्थापित की, जिसमें एक डॉक्टर या सर्जन के इलाज न कर पाने की स्थिति में अलग-अलग विभागों के डॉक्टरों की एक टीम मिलकर मरीज़ का परीक्षण करेगी और यह टीम मिलकर फ़ैसला करेगी कि मरीज़ का इलाज किस तरह से संभव है। इसी व्यवस्था को नाम दिया गया - इंटीग्रेटेड प्रैक्टिस यूनिट। इस यूनिट की स्थापना का नतीजा यह हुआ कि किसी विभाग के डॉक्टर या सर्जन के मरीज़ की बीमारी का इलाज न कर पाने की स्थिति में सभी संबंधित विभागों के डॉक्टरों की एक टीम मरीज़ के मामले को अपने हाथ में लेगी और उसकी बीमारी के इलाज का तरीक़ा निकालेगी। एक मायने में, इस यूनिट की वजह से यह सुनिश्चित हुआ कि भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान आने वाला हर मरीज़ बिना इलाज के बाहर नहीं जाएगा।

5. भारत में पहली बार एक्स्ट्रा-कॉरपोरियल मैम्ब्रेन ऑक्सीजेनेशन (ईसीएमओ) डिवाइस का इस्तेमाल

भारत में एक्स्ट्रा-कॉरपोरियल मैम्ब्रेन ऑक्सीजेनेशन यानी (ईसीएमओ) उपकरण/डिवाइस का इस्तेमाल भी पहली बार भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में ही हुआ और

इसका श्रेय भी डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम को ही जाता है। एक्स्ट्रा-कॉरपोरियल मैम्ब्रेन ऑक्सीजेनेशन डिवाइस एक 'लाइफ सपोर्ट सिस्टम' है। यह डिवाइस शरीर को उस समय ऑक्सीजन सप्लाई करने में मदद करता है, जब किसी मरीज़ के फ़ेफड़े या दिल काम नहीं कर पाते हैं। इस डिवाइस का इस्तेमाल तब किया जाता है, जब मरीज़ साँस ले पाने के प्राकृतिक तरीक़ों का इस्तेमाल नहीं कर पा रहा हो। इस उपकरण के इस्तेमाल के लिए शरीर की किसी एक नस से ख़ून निकालकर उसे मशीन से जोड़ दिया जाता है, जिससे बाईपास तरीक़े से ख़ून पूरे शरीर में प्रवाहित होने लगता है। ईसीएमओ मशीन नसों में बह रहे ख़ून के ज़रिये काम करती है। ईसीएमओ ख़ून में ऑक्सीजन जोड़ती है और कार्बनडाइऑक्साइड को हटा देती है। इसके साथ ही यह ख़ून को गर्म भी करता है और नसों में भी भेजता है। कई मामलों में ईसीएमओ उपकरण पूरे शरीर में ख़ून को प्रवाहित भी करता है। यह उपकरण ख़ून को दिल और फ़ेफड़ों से भी बायपास करने देता है। भारत में इस उपकरण के इस्तेमाल से पहले कमज़ोर दिल वाले बच्चे जल्द ही दम तोड़ देते थे। कमज़ोर दिल वाले बच्चों को सर्जरी के लायक बनाना आसान नहीं था। लेकिन इस उपकरण के इस्तेमाल के बाद से कमज़ोर दिल वाले बच्चों को भी सर्जरी के लायक बनाया गया और सर्जरी कर उन्हें दिल की बीमारियों से मुक्ति दिलायी गयी।

6. स्टेम सेल थेरेपी की भी शुरुआत का श्रेय

भारत में स्टेम सेल थेरेपी की शुरूआत डॉ. वेणुगोपाल और उनकी टीम ने भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान से ही की। स्टेम सेल थेरेपी ने भी भारतीय चिकित्सा क्षेत्र में क्रांति लायी। स्टेम सेल थेरेपी की वजह से लाइलाज समझे जाने वाली कई बीमारियों का इलाज मुमकिन हो पाया। इतना ही नहीं, स्टेम सेल थेरेपी की वजह से कई बीमारियों का जटिल इलाज सरल हो गया।

इसी तरह से कई नायाब कामयाबियाँ हासिल करते हुए डॉ. वेणुगोपाल की टीम ने भारत के चिकित्सा-क्षेत्र में एक नयी और बड़ी क्रांति लायी और नया इतिहास लिखा। इस गौरवशाली इतिहास को लिखने में अक्षय की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। ग़ौर देने वाली बात यह भी है कि अक्षय ने अपने ख़ुद के बल पर भी कई सारी नायाब कामयाबियाँ हासिल की हैं। वे भारत में रोबोटिक कार्डियक सर्जरी करने वाले पहले भारतीय डॉक्टर हैं। यानी अक्षय ने ही पहली बार भारत में एक रोबोट की मदद से दिल का ऑपरेशन किया। अक्षय ने कई ऐसे ऑपरेशन किये हैं, जो कि भारत में पहली बार किये गये। हर जगह से नकार दिये गये मरीज़ों

की शल्य-चिकित्सा करते हुए भी उन्होंने अपनी कामयाबी की कहानी में नये-नये सुंदर अध्याय जोड़े हैं।

माँ ने अक्षय को बीमारी से मुक्ति दिलवाने के लिए शिव-पार्वती के मंदिर में दे दिया था दान, शादी करवाने के लिए मंदिर से वापस लिया दानस्वरूप दिया अपना बेटा

अक्षय के जीवन से जुड़ी एक बहुत ही दिलचस्प घटना है। जब अक्षय का जन्म हुआ था, तभी से वे बहुत बीमार रहा करते थे। माता-पिता ने कई डॉक्टरों को दिखाया, लेकिन उनकी तबीयत ठीक नहीं हुई। शिशु-अवस्था से ही वे किसी 'अनजान' बीमारी का शिकार हो गये थे। बचपन के शुरूआती सालों में घर और अस्पताल - इन्हीं दोनों के बीच चक्करों में उनका जीवन सिमट कर रह गया था। माँ आस्थावान थीं, भगवान में उनका अटूट विश्वास था। माँ शिव की भक्त थीं। जब डॉक्टर अक्षय की बीमारी का इलाज नहीं कर पाये, तब माँ ने ईश्वर का सहारा लिया। ख़ूब पूजा-पाठ किया। व्रत किया, अनुष्ठान करवाया। फिर भी अक्षय की तबीयत ठीक नहीं हुई। एक पांडा ने सलाह दी कि अगर बालक अक्षय को शिव-मंदिर में दान दे दिया जाएगा, तब उसकी तबीयत ठीक होगी। आख़िरी उम्मीद समझकर माँ ने बालक अक्षय को शिव-पार्वती के मंदिर को दान दे दिया। दान का यह मतलब नहीं था कि बालक शिव-पार्वती के मंदिर में ही रहे। बालक शिव-पार्वती की संतान हो गया था, लेकिन उसके पालन-पोषण की ज़िम्मेदारी जन्म देने वाले माता-पिता की ही थी। शायद यह चमत्कार ही था कि शिव-पार्वती को दान देने के बाद अक्षय की तबीयत पूरी तरह से ठीक हो गयी और वह भी सामान्य बालकों की तरह ही खेलने-कूदने, पढ़ने-लिखने लगा था।

इसी घटना से जुड़ी एक और दिलचस्प घटना भी है। सारी पढ़ाई पूरी होने और नौकरी पर लग जाने के बाद भी अक्षय की शादी नहीं हो पा रही थी। कुछ न कुछ कारणों से रिश्ता बन नहीं पा रहा था। इस बार भी पंडों की सलाह ली गयी। पंडों ने माता-पिता को याद दिलाया कि अक्षय को शिव-पार्वती के मंदिर को दान में दे दिया गया था और इसी वजह से उनकी शादी नहीं हो पा रही है। अक्षय की शादी करवाने के लिए पहले उन्हें मंदिर को दिया अपना दान वापस लेना चाहिए। माता-पिता ने पंडों की बात मानते हुए अक्षय को शिव-पार्वती मंदिर से वापस लिया। दानस्वरूप दिये गये अपने बेटे को मंदिर से वापस लेते ही अक्षय का रिश्ता पक्का हो गया और उनकी शादी भी हो गयी।

दिल का दिलचस्प डॉक्टर और डॉक्टर का दिलचस्प दिल

हज़ारों लोगों को दिल की बीमारियों से मुक्ति दिला चुके अक्षय को दिल की कई बातें बहुत ही दिलचस्प लगती हैं। वे कहते हैं, "शरीर के सब अंग कभी न कभी सो जाते हैं। ब्रेन भी सो जाता है। आदमी कुछ देर के लिए साँस लेना भी बंद कर सकता है। लेकिन दिल ही एक ऐसी चीज़ है, जो कभी सोती नहीं है। दिल कभी आराम नहीं करता। वह चलते रहता है और दिल के रुकने का मतलब है-ज़िंदगी का ख़त्म हो जाना।"

इंसानी दिल की ख़ूबियाँ गिनाते हुए अक्षय ने कहा, "माँ के गर्भ में जब बच्चे का जन्म होता है, तब शरीर के सभी अंग अपनी-अपनी जगह पर होते हैं। लेकिन दिल एक ऐसा अंग है, जो पहले गले में होता है और फिर आगे चलकर अपनी सही जगह पर जाकर बैठता है। दिल का विकास गले में शुरू होता है, लेकिन वह छाती में जाकर बैठता है।" अक्षय ने यह भी कहा, "दिल के शरीर के बीचोंबीच होने के पीछे भी एक ख़ास वजह है। शरीर में दिल का स्थान जहाँ है, वह जगह शक्ति की होती है, वह जगह भावनाओं की होती है। यही वह जगह है, जो ज़िंदगी का मक़सद तय करती है।"

ख़ुद के दिल का डॉक्टर बनने की वजह बताते हुए अक्षय ने कहा, "मुझे जब समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे क्या बनना है, तब मैं डॉ. वेणुगोपाल से मिला था। मेरे गुरु अनादिकृष्ण पात्रा के कहने की वजह से ही दिल का ऑपरेशन करने का तरीक़ा सीखने के लिए मैं डॉ. वेणुगोपाल से मिला था। डॉ. वेणुगोपाल से दिल का ऑपरेशन करने का तरीक़ा सीखते हुए मैंने तय कर लिया था कि यही मेरी ज़िंदगी है। दिल का ऑपरेशन करने के बाद आपको यह मालूम हो जाता है कि मरीज़ ठीक होगा या नहीं। अगर आपने सही ऑपरेशन किया है, तो आपको तभी मालूम पड़ जाएगा कि ऑपरेशन सही हुआ है और मरीज़ ठीक हो जाएगा। दिल के ऑपरेशन के मामले में ही रिज़ल्ट आपको तुरंत दिखायी देता है। ऑपरेशन सक्सेसफुल होने पर मरीज़ एक बार फिर पूरी तरह से ठीक हो जाता है और ऑपरेशन के कुछ ही दिनों बाद अपने सब काम सामान्य रूप से करने लगता है। लेकिन किसी दूसरे ऑपरेशन में यह मुमकिन नहीं है। उदाहरण के तौर पर दिमाग़ का ऑपरेशन लीजिए, आपको ऑपरेशन के बाद भी यह नहीं मालूम पड़ेगा कि मरीज़ ठीक होगा या नहीं और ठीक होगा तो कितना ठीक होगा और कब तक ठीक होगा। दिल के ऑपरेशन में आपको नतीजा ऑपरेशन के तुरंत बाद ही समझ में आ जाता है और इसी वजह से मैंने दिल का सर्जन बनने का फ़ैसला लिया था।"

बातचीत के दौरान अक्षय ने यह भी बताया कि दो चीज़ों से उनके दिल को बहुत दुख होता है। वे कहते हैं, "पहली चीज़ है बेवफ़ाई। अगर कोई मेरे साथ बेवफ़ाई करे, तो मुझे बहुत दर्द होता है। मुझे ऐसे लोग बिल्कुल पसंद नहीं हैं, जो मुसीबत में साथ देने वाले लोगों को भूल जाते हैं और एहसानफरामोश होते हैं। दूसरी चीज़ जो मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है, वह है लोगों को धोखा देना, विश्वासघात करना। मुझे ऐसे लोगों से सख़्त नफ़रत है, जो झूठ बोलते हैं, जो हेराफ़ेरी करते हैं।"

महत्वपूर्ण बात यह भी है कि अक्षय आस्थावान हैं। भगवान में उनका अटूट विश्वास है। भगवान जगन्नाथ उनके इष्टदेव हैं। और अक्षय अपनी बातों को मनवाने के लिए तत्व-ज्ञान का सहारा लेते हैं। विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र को छोड़ दें, तो उनकी ज़्यादातर बातें दार्शनिक होती हैं। लोगों की सेवा करने को ही वे अपना सबसे बड़ा धर्म समझते हैं और ईश्वर से उनकी यही प्रार्थना होती है कि उनके हाथों जिस किसी मरीज़ का इलाज हो, वह स्वस्थ रहे और उसका कल्याण हो।

अक्षय चाहते हैं कि वे आने वाले दिनों में और भी ज़्यादा, ज़्यादा से ज़्यादा लोगों की सेवा करें। मरीज़ों के सही इलाज और लोगों की सेवा में ही दिल के इस डॉक्टर के दिल को सुकून मिलता है। अक्षय की अनेक ख़ूबियों में एक ख़ूबी यह भी है कि कई सारी नायाब कामयाबियों के बावजूद उनमें घमंड नाम की कोई चीज़ ही नहीं है। सीधा-सादा जीवन है। वे कहते हैं, "मैं एक छोटा आदमी हूँ।"

दूसरों के दिल के दर्द को अपना समझता है दिल के डॉक्टर खलीलुल्लाह का दिल

मोहम्मद खलीलुल्लाह उस अति-विशिष्ट व्यक्तित्व का नाम है, जिन्होंने दिल के डॉक्टरों की एक ऐसी बड़ी और असरदार फ़ौज तैयार की है, जो देश और दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में दिल की बीमारियों से लड़ते हुए लाखों लोगों की जान बचा रही है। वे भारत में पहली पीढ़ी के 'दिल का डॉक्टर' यानी कार्डियोलॉजिस्ट हैं। अगर वे चाहते, तो अपने ज़माने के दिल के डॉक्टरों की तरह मरीज़ों का इलाज करते हुए ख़ूब धन-दौलत और शोहरत कमा सकते थे। लेकिन उन पर अपने गुरुओं का प्रभाव कुछ इस कदर पड़ा कि उन्होंने डॉक्टरी विद्यार्थियों का 'गुरु' बनने का फ़ैसला किया और ज़िंदगी में वह मुकाम हासिल किया, जो कि बड़े-बड़े सूरमाओं को भी नहीं मिलता है। भारत में दिल की बीमारियों के इलाज की प्रक्रिया को आसान बनाने में भी खलीलुल्लाह की काफ़ी महत्वपूर्ण भूमिका है। उनकी पहल की वजह से ही भारत में पहली बलून एंजियोप्लास्टी हुई और इसके बाद से बिना सर्जरी के भी दिल की बीमारियों के इलाज की कार्य-विधि शुरू हुई। खलीलुल्लाह सही मायने में भारत में इंटरवेंशन्ल कार्डियोलॉजी के जनक भी हैं। उनकी ज़िद और मेहनत का ही नतीजा है कि दिल की बीमारियों के इलाज की अत्याधुनिक और सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा-पद्धतियाँ भारत में भी अमल में लायी जानी शुरू हुईं। उन्होंने दिल्ली के गोविंदवल्लभ पंत अस्पताल को भारत में दिल की बीमारियों के इलाज से जुड़ा सबसे बड़ा और असरदार शोध, अनुसंधान और चिकित्सा-संस्थान बनाने में सबसे अहम किरदार निभाया। खलीलुल्लाह के जीवन में नायाब कामयाबियों की एक बहुत बड़ी फ़ेहरिस्त

है। चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में भारत को विकसित देशों के मुक़ाबले ला खड़ा करने में खलीलुल्लाह की मेहनत भी है। और ऐसा भी नहीं है कि खलीलुल्लाह ने अपनी ज़िंदगी में बस कामयाबियाँ ही कामयाबियाँ देखी हैं। उनकी इन बड़ी कामयाबियों के पीछे संघर्ष, मेहनत और दृढ़ संकल्प की एक बेजोड़ कहानी है। एक ऐसी कहानी, जिसमें मध्यमवर्गीय परिवार के संघर्षों के बावजूद एक वालिदा के अपने बच्चे को डॉक्टर बनाने की ज़िद है, वालिदा के सपने को पूरा करने के लिए एक बच्चे की दिन-रात की मेहनत है। खलीलुल्लाह की कहानी में विपरीत परिस्थितियों को अनुकूल बनाने के नुस्ख़े हैं, ज़िंदगी को कामयाब और उपकारी बनाने के मंत्र हैं।

जीवन को आदर्श बनाने का रास्ता दिखाने और अच्छा काम करने की प्रेरणा देने वाली कहानी के नायक खलीलुल्लाह का जन्म 6 जून, 1936 को महाराष्ट्र के नागपुर शहर में हुआ। उनके वालिद मोहम्मद कलीमुल्लाह सरकारी कर्मचारी थे और उद्योग विभाग में काम किया करते थे। वालिदा फज़लुन्निसा बेगम गृहिणी थीं। खलीलुल्लाह अभी चार साल के भी नहीं हुए थे कि उनके पिता का साया उनके सिर पर से उठ गया। दिल का दौरा पड़ने की वजह से खलीलुल्लाह के वालिद की 41 साल की उम्र में मृत्यु हो गयी थी। खलीलुल्लाह और उनके दो छोटे भाइयों की परवरिश करने की सारी ज़िम्मेदारी वालिदा पर आ गयी। मायकेवालों के कहने पर वालिदा अपनी तीनों संतानों को लेकर अपने पिता और भाइयों के पास रहने कामटी चली गयीं। कामटी नागपुर से क़रीब 16 किलोमीटर दूर है।

खलीलुल्लाह का सारा बचपन अपने नाना के यहाँ ही बीता। उनकी स्कूली शिक्षा भी कामटी में ही हुई। खलीलुल्लाह का दाख़िला कामटी के सरकारी स्कूल में करवाया गया था और यहीं पर उन्होंने पहली से लेकर ग्यारहवीं तक की पढ़ाई की। सारी स्कूली शिक्षा उर्दू मीडियम में हुई। खलीलुल्लाह ने बताया कि उन दिनों कामटी में कोई 'साइंस' स्कूल नहीं था, इसी वजह से उन्हें 'आर्ट्स' लेना पड़ा। और पहली से ग्यारहवीं तक उर्दू, फ़ारसी, अंग्रेज़ी, हिस्ट्री, सोशल स्टडीज़ उनकी पढ़ाई-लिखाई के विषय हुआ करते थे। खलीलुल्लाह शुरू से ही पढ़ाई में काफ़ी तेज़ थे। उन पर एक जुनून सवार था - ख़ूब मन लगाकर पढ़ना और फिर बड़ा होकर बड़ा आदमी बनना।

खलीलुल्लाह अपनी वालिदा से बहुत प्रभावित थे। वालिद साहब के गुज़र जाने के बाद जिस तरह से वालिदा ने उनकी और उनके दोनों भाइयों की परवरिश ही थी, उसने खलीलुल्लाह के दिलोदिमाग़ पर गहरी छाप छोड़ी थी। बचपन से ही खलीलुल्लाह ने अपनी वालिदा को हमेशा मेहनत करते हुए देखा था। पिता के न

होने की वजह से कमाई का कोई ज़रिया भी नहीं था। नाना और मामा की मदद से किसी तरह गुज़र-बसर हो रही थी। खलीलुल्लाह बताते हैं, "वालिदा ने हमें कभी भी ऐसा महसूस होने नहीं दिया कि उन्हें कोई परेशानी है। उन्होंने हमारी हर ज़रूरत को पूरा किया। हमें तालीम दिलवायी।" वालिदा की हौसलाअफ़ज़ाही से खलीलुल्लाह ने स्कूल के दिनों में कुछ इस तरह से मेहनत की कि नौवीं क्लास में वे स्कॉलरशिप के हक़दार हो गये। परीक्षाओं में खलीलुल्लाह के नंबर इतने अच्छे होते थे कि उन्हें देखकर सरकार ने उन्हें हर महीने पाँच रुपये बतौर स्कॉलरशिप देना शुरू किया। खलीलुल्लाह कहते हैं, "उन दिनों पाँच रूपये बहुत बड़े थे।"

वालिदा के कहने पर ही खलीलुल्लाह ने डॉक्टर बनने और लोगों की सेवा करने की ठानी थी। वालिदा के डॉक्टर बनने का मशवरा देने के पीछे दो बड़ी दिलचस्प वजहें थीं। सबसे बड़ी वजह थी, डॉ. एन. डबल्यू. सिग्नापुरकर का वालिदा पर प्रभाव। डॉ. सिग्नापुरकर खलीलुल्लाह के नाना के पारिवारिक चिकित्सक हुआ करते थे। किसी के बीमार पड़ने पर वे घर आकर मरीज़ का परीक्षण करते थे और बीमारी को दूर करने के लिए दवाइयाँ देते थे। ज़रूरत पड़ने पर सुई भी लगाते थे। डॉ. सिग्नापुरकर खलीलुल्लाह की वालिदा को अपनी बहन मानते थे और उनका इलाज भी वे ही करते थे। डॉ. सिग्नापुरकर की क़ाबिलीयत और उनके सेवा-भाव से खलीलुल्लाह की वालिदा इतना प्रभावित थीं कि उन्होंने अपने बड़े बेटे खलीलुल्लाह को डॉक्टर बनाने का सपना देखना शुरू कर दिया था। वालिदा चाहती थीं कि उनका लाड़ला बेटा खलील भी सिग्नापुरकर की तरह चिकित्सक बने और लोगों का दुख-दर्द और उनकी बीमारियाँ दूर करते हुए समाज में ख़ूब अच्छा नाम कमाये। दूसरी वजह यह थी कि खलीलुल्लाह पढ़ाई में काफ़ी तेज़ थे। वे शुरू से ही अपनी क्लास में अव्वल रहे। क्लास में या तो वे फर्स्ट आते या सेकंड, इससे नीचे वे कभी गये ही नहीं। खलील ख़ूब मन लगाकर पढ़ा करते थे। वालिदा को लगता था कि उनके लाड़ले में भी डॉक्टर बनने की क़ाबिलीयत है। खलीलुल्लाह भी यह बात अच्छे से जानते थे कि उनके घर-परिवार, ख़ास तौर पर वालिदा की तकलीफ़ों को दूर करना है, तो उन्हें अच्छे से पढ़ना है और बड़ी नौकरी पानी है।

खलीलुल्लाह की मेहनत और लगन का ही नतीजा था कि उन्होंने हाई स्कूल की परीक्षा फर्स्ट क्लास में पास की थी और दो सब्जेक्ट में उन्हें डिस्टिंक्शन मिला था। यह वह ज़माना था, जब हाई स्कूल पास करना ही बड़ी कामयाबी मानी जाती थी। बहुत ही कम बच्चे हाई स्कूल की परीक्षा में पास हो पाते थे। फर्स्ट डिवीज़न में पास होना तो बहुत ही बड़ी कामयाबी समझी जाती थी। इतना ही नहीं, उन दिनों दसवीं पास कर लेने के बाद नौकरी भी आसानी से मिल जाती थी और

फर्स्ट डिवीज़न में दसवीं पास करने का मतलब होता - अच्छी नौकरी पक्की है। जब खलीलुल्लाह ने हाई स्कूल की परीक्षा पास की और वह भी फर्स्ट डिवीज़न में, तब उनके नाना, मामा और दूसरे रिश्तेदारों ने फ़ौरी तौर पर नौकरी पर लग जाने की सलाह दी। घर-परिवार की हालत कुछ ऐसी थी कि खलीलुल्लाह के लिए नौकरी करना ही सबसे बेहतर काम लग रहा था। लेकिन वालिदा की ज़िद थी कि खलीलुल्लाह आगे भी पढ़ाई करेंगे और डॉक्टर बनेंगे। जब वालिदा और उनके मायकेवालों के बीच टकराव की स्थिति आ गयी, तब सही फ़ैसले के लिए सभी ने अपने चहेते डॉक्टर सिग्नापुरकर से मशवरा लेने का मन बनाया। डॉ. सिग्नापुरकर भी खलीलुल्लाह की क़ाबिलीयत, उनकी मेहनत से भली-भांति परिचित थे, इसी वजह से उन्होंने कहा कि बच्चे की बुद्धि तेज़ है और वह डॉक्टर बन सकता है। डॉ. सिग्नापुरकर ने खलीलुल्लाह को आगे पढ़ाने की ही सलाह दी। घर में सभी डॉ. सिग्नापुरकर की बहुत इज़्ज़त करते थे और उनकी बात पत्थर की लकीर मानी जाती थी। उनकी सलाह के ख़िलाफ़ जाने का सवाल ही पैदा नहीं होता था। डॉ. सिग्नापुरकर की सलाह पर खलीलुल्लाह को साइंस कॉलेज में दाख़िला दिलवाने की कोशिश शुरू हुई। सबसे नज़दीकी साइंस कॉलेज नागपुर में था। बावजूद इसके कि खलीलुल्लाह की स्कूली पढ़ाई-लिखाई का मुख्य विषय साइंस नहीं, बल्कि आर्ट्स था, फिर भी परीक्षा में मिले शानदार नंबरों को देखते हुए उन्हें साइंस कॉलेज में दाख़िला दे दिया गया। दाख़िले के समय हुए इंटरव्यू में साइंस कॉलेज के प्रिंसिपल ने खलीलुल्लाह से पूछा कि वे इंग्लिश मीडियम से पढ़ना चाहेंगे या मराठी मीडियम में, तब खलीलुल्लाह का जवाब था - इंग्लिश मीडियम। खलीलुल्लाह को लगा कि इंटर कॉलेज में पढ़ाई-लिखाई इंग्लिश मीडियम से करने पर डॉक्टरी की पढ़ाई में आसानी होगी। उनका फ़ैसला आगे चलकर सही साबित हुआ। लेकिन साइंस कॉलेज के शुरुआती दिनों में खलीलुल्लाह को काफ़ी कड़ी मेहनत करनी पड़ी। उर्दू मीडियम से सीधे इंग्लिश मीडियम की क्लास में पहुँचे खलीलुल्लाह को सबसे ज़्यादा मैथ्स और वह भी ट्रिग्नोमेट्री यानी त्रिकोणमिति ने परेशान किया। एक बेहद ख़ास मुलाक़ात में खलीलुल्लाह ने कहा, "मैथ्स की क्लास में जब साइन, कोस, टैन्जन्ट के बारे में बताना शुरू किया, तब मुझे लगा कि मैं इंग्लिश मीडियम की किसी क्लास में हूँ या फिर ग्रीक या लैटिन वाली क्लास में। शुरू के दिनों में तो मेरे लिए सब कुछ ग्रीक और लैटिन जैसा ही लग रहा था।" और तो और, कॉलेज के कुछ बच्चे इस बात को लेकर भी खलीलुल्लाह की हँसी उड़ाया करते थे कि उर्दू मीडियम के बच्चे ने इंग्लिश मीडियम में एडमिशन लिया है और वह भी साइंस में। खलीलुल्लाह को यह हँसी पसंद नहीं थी और न ही कभी उन्होंने इसकी परवाह की।

डॉक्टर बनाने के वालिदा के सपने को पूरा करने का जुनून खलीलुल्लाह पर कुछ इस तरह से सवार था कि उन्होंने पढ़ाई-लिखाई में दिन-रात एक कर दिये। देर रात तक वे किताबों में उलझे रहते। खलीलुल्लाह बताते हैं, "उन दिनों बॉल पेन नहीं हुआ करती थी। मैं काली पटिया पर लिखा करता था। कॉलेज के दिनों में मैंने काली पटिया पर ही फिज़िक्स के प्रॉब्लम सोल्व करना सीखा है। मैं स्लेट पर प्रॉब्लम लिखता और फिर उसका सलूशन निकालने की कोशिश करता। मैं स्लेट पर लिखता, मिटाता और ऐसा उस समय तक करता, जब तक प्रॉब्लम सोल्व नहीं हो जाती। साइंस को भी मैंने चाक और स्लेट के ज़रिये ही सीखा।"

ऐसा भी बिल्कुल नहीं था कि पढ़ाई-लिखाई में मसरूफ़ होकर खलीलुल्लाह ने खेल के मैदान का रुख़ किया ही नहीं। उन्हें जब कभी मौक़ा मिलता, वे दोस्तों के साथ खेलते-कूदते भी। उन्हें बैडमिंटन खेलना ख़ूब पसंद था। बचपन में हॉकी और फुटबाल भी उन्होंने खेली। लेकिन एक डर था, जो उन्हें खेल के मैदान से अमूमन दूर रखता था। खलीलुल्लाह को लगता था कि अगर मैदान में किसी वजह से वे खेलते समय चोटिल हो जाएँ, तब उन्हें स्कूल से छुट्टी लेनी पड़ेगी। छुट्टी का मतलब था पढ़ाई से दूर रहना। खलीलुल्लाह नहीं चाहते थे कि उनकी ज़िंदगी में एक दिन भी ऐसा आये, जब उन्हें स्कूल न जाना पड़े। चोटिल होने और चोट की वजह से स्कूल न जा पाने के डर से खलीलुल्लाह ने ख़ुद को कई बार खेल के मैदान से दूर रखा।

बड़ी बात यह है कि खलीलुल्लाह ने पढ़ाई के मामले में कभी भी कोई समझौता नहीं किया। कॉलेज के दिनों में उनका बस एक ही मक़सद हुआ करता था - डॉक्टर बनना और वालिदा का सपना पूरा करना। खलीलुल्लाह की मेहनत इतनी तगड़ी थी कि उन्हें साइंस कॉलेज की परीक्षाओं में उम्दा नंबर मिले। हाई स्कूल तक आर्ट्स के विद्यार्थी रहे खलीलुल्लाह ने इंटर की पढ़ाई के दौरान फिज़िक्स में उम्दा नंबरों से एग्जाम पास किया था। इंटर की परीक्षाओं में मिले नंबरों के आधार पर उन्हें मेडिकल कॉलेज में भी सीट मिल गयी। साल 1956 में उनका दाख़िला नागपुर मेडिकल कॉलेज में हुआ। खलीलुल्लाह के मुताबिक़, "उन दिनों भी मेडिकल कॉलेज में एडमिशन पाना आसान नहीं था। अब की तरह उस ज़माने में एंट्रेंस टेस्ट नहीं हुआ करते थे। मेरिट के आधार पर एडमिशन होता था मेडिकल कॉलेज में। उन दिनों भी स्पोर्ट्स और एनसीसी कोटा होता था। मैंने मेहनत की थी और मुझे मेडिकल कॉलेज में सीट मिल गयी।" खलीलुल्लाह ने यह भी बताया कि उन दिनों एमबीबीएस की पढ़ाई के लिए मेडिकल कॉलेज की सालाना फीस साढ़े तीन सौ रुपये हुआ करती थी।

स्कूल और इंटर कॉलेज की तरह ही खलीलुल्लाह ने मेडिकल कॉलेज में भी जी-जान लगाकर पढ़ाई की। उनकी ज़िद थी कि मेडिकल कॉलेज में भी एक दिन ऐसा न जाय, जब उन्हें किसी क्लास से छुट्टी लेनी पड़े। और तो और, कॉलेज पहुँचने में देरी न हो जाय, इसलिए कई बार खलीलुल्लाह को साइकिल चलाकर कॉलेज जाना पड़ता था। खलीलुल्लाह ने बताया, "कामटी में मेरे घर से मेडिकल कॉलेज की दूरी क़रीब बीस किलोमीटर की थी। हर दिन सुबह हम ट्रेन पकड़कर कामटी से नागपुर जाते थे और फिर नागपुर स्टेशन से कोई बस पकड़कर अपने मेडिकल कॉलेज जाया करते थे। और अगर ट्रेन लेट हो जाती, तो हमारा कॉलेज लेट पहुँचना भी लाज़मी था। ट्रेन के लेट होने पर मैं साइकिल लेकर मेडिकल कॉलेज चला जाता था। इसी वजह से कभी भी क्लास में लेट नहीं हुआ। क्लास में मेरा रोल नंबर 28 था और कभी ऐसा नहीं हुआ कि मैं अपना नंबर निकल जाने के बाद कॉलेज पहुँचा हूँ।" मेडिकल कॉलेज को साइकिल से जाने वाला वाकया सुनाते समय खलीलुल्लाह बहुत भावुक हो जाते हैं। अमूमन हर बार उनकी आँखें-भर आती हैं। वे कहते हैं, "डॉक्टर बनने का इरादा पक्का था, और यही वजह थी कि मैंने अपनी ओर से कोई ग़लती होने नहीं दी।" यानी बात साफ़ है, ट्रेन के लेट होने पर खलीलुल्लाह बीस किलोमीटर साइकिल चलाकर कॉलेज पहुँचा करते थे और कॉलेज की क्लासें पूरे होने के बाद फिर 20 किलोमीटर साइकिल चलाकर घर लौटते थे। ट्रेन लेट होना का सीधा मतलब था - घर से कॉलेज आने-जाने के लिए चालीस किलोमीटर से ज़्यादा साइकिल चलाना।

महत्वपूर्ण बात यह भी है कि शुरू से ही खलीलुल्लाह नियम-क़ायदों के बहुत ही पक्के रहे हैं। अनुशासन की उनके जीवन में काफ़ी अहमियत है। उनका स्वभाव ही मेहनती है। हर इरादा उनका पक्का होता है और वे अपने मक़सद को पूरा करने के लिए जी-जान लगा देते हैं। उनकी नीयत इतनी पाक-साफ़ है कि वे किसी का बुरा सोच भी नहीं सकते। दुनिया की बड़ी से बड़ी ताक़त भी उन्हें उनकी मंज़िल तक पहुँचने की कोशिश में उन्हें उनकी राह से नहीं डगमगा सकती है। वे इक़बाल की इन पंक्तियों कर यक़ीन करते हैं और अब भी इन्हीं पंक्तियों से प्रेरणा लेते हैं-

यक़ीं मोहकम अमल पैहम मोहब्बत फ़ातेह-ए-आलम
जिहाद-ए-ज़िंदगानी में हैं ये मर्दों की शमशीरें

यही वजह थी कि खलीलुल्लाह ने अव्वल नंबरों से एमबीबीएस की परीक्षा भी पास की और मेडिकल कॉलेज में साढ़े पाँच साल की कड़ी मेहनत के बाद वे

डॉक्टर बने। एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान खलीलुल्लाह को नागपुर मेडिकल कॉलेज में बहुत कुछ नया देखने, समझने और सीखने को मिला था। चूँकि उनके पिता की मौत दिल का दौरा पड़ने से हुई थी, दिल की बीमारियों और उनके इलाज में उनकी दिलचस्पी शुरू से ही रही। खलीलुल्लाह को इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम यानी ईसीजी की रिपोर्ट देखने और मरीज़ की बीमारी के बारे में पता लगाने में भी काफ़ी दिलचस्पी थी। ग़ौरतलब है कि इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम द्वारा इंसानी दिल की धड़कनों और उससे निकलने वाली विद्युत तरंगों को समझकर दिल की बीमारी का पता लगाया जाता है।

नागपुर मेडिकल कॉलेज में ही खलीलुल्लाह ने मरीज़ों का इलाज करना भी शुरू कर दिया था। उन्हें अपने डॉक्टरी जीवन का पहला मरीज़ अब भी याद है। उस मरीज़ का इलाज किये हुए पचास साल से ऊपर हो गये हैं, लेकिन खलीलुल्लाह के ज़हन में उस मरीज़ की यादें अब भी ताज़ा हैं। हुआ यूँ था कि उस दिन खलीलुल्लाह ड्यूटी पर थे। एक मरीज़ अस्पताल आया था। उसकी हालत बहुत ख़राब थी। उसकी साँसें फूल रही थीं। साँस लेने में उसे बहुत ज़्यादा तकलीफ़ हो रही थी। माथे से पसीना भी छूट रहा था। अस्पताल में उस समय मौजूद दूसरे डॉक्टरों को भी लग रहा था कि मरीज़ का अंत समय निकट है। लेकिन खलीलुल्लाह ने मामले को अपने हाथों में लिया। उन्होंने जब मरीज़ का ब्लड प्रेशर चेक किया, तब उन्हें पता चला कि ब्लड प्रेशर काफ़ी हाई है। अगर हालत ऐसी ही बनी रही, तो मरीज़ को दिल या फिर दिमाग़ का ज़बरदस्त दौरा पड़ सकता था और उसकी जान भी जा सकती थी। उन दिनों बीपी को कम करने के लिए उतने ज़्यादा उपाय नहीं थे, जितने कि आज हैं। लेकिन खलीलुल्लाह ने मरीज़ को अस्पताल में भर्ती करवाया और मौजूदा उपायों से ही मरीज़ का ब्लड प्रेशर सामान्य करने की कोशिश शुरू की। कोशिश कामयाब भी रही। दो-तीन घंटों में ही मरीज़ की हालत में काफ़ी सुधार आया। जब मेडिसिन के प्रोफ़ेसर ने मरीज़ की हालत देखी, तब उन्हें इस बात पर यक़ीन ही नहीं हुआ कि जब वह मरीज़ तीन घंटे पहले अस्पताल आया था, तब उसकी जान ख़तरे में थी। जब प्रोफ़ेसर को पता चला कि खलीलुल्लाह के इलाज की वजह से मरीज़ की जान बची है, तब वे बहुत ख़ुश हुए और खलीलुल्लाह को शाबाशी दी।

एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान खलीलुल्लाह को अपने शिक्षकों और प्रोफ़ेसरों से कई बार शाबाशी मिली। शानदार नंबरों से खलीलुल्लाह ने एमबीबीएस कोर्स की सारी परीक्षाएँ पास कीं और डॉक्टर बन गये। वे डॉक्टर बने थे अपनी वालिदा

का सपना पूरा करने के लिए। वालिदा के बताये रास्ते पर चलते हुए ही उन्होंने डॉक्टरी पेशे को कमाई का ज़रिया नहीं बनाया, बल्कि डॉक्टर बनने के बाद लोगों की सेवा में जुट गये। एमबीबीएस की डिग्री लेने के बाद एमडी की पढ़ाई के लिए खलीलुल्लाह ने नागपुर मेडिकल कॉलेज को ही चुना। 1965 में एमडी की डिग्री लेने के बाद खलीलुल्लाह को नागपुर मेडिकल कॉलेज में ही रजिस्ट्रार की नौकरी मिल गयी। इसी दौरान एक घटना ऐसी हुई, जिसने खलीलुल्लाह को 'दिल का डॉक्टर' बना दिया। नागपुर मेडिकल कॉलेज में रजिस्ट्रार का काम करते हुई ही खलीलुल्लाह के मन में यह इच्छा जगी थी कि उन्हें ज़िंदगी में कुछ नया और बड़ा करना है। वे इसी सोच में डूबे रहते थे कि वे नया और बड़ा क्या कर सकते हैं। इसी बीच एक दिन उन्होंने अपने एक दोस्त के हाथ में अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान यानी एम्स में डीएम-कार्डियोलॉजी कोर्स का एडमिशन फॉर्म देखा। फॉर्म देखकर उनके मन में भी एम्स से डीएम-कार्डियोलॉजी का सुपर स्पेशलाइजेशन कोर्स करने की इच्छा जगी। फिर क्या था - खलीलुल्लाह ने भी फॉर्म भर दिया और एग्जाम की तैयारी करने लगे। हर बार की तरह ही इस बार भी एग्जाम के लिए उनकी तैयारी दमदार थी। स्वाभाविक था, उन्हें डीएम-कार्डियोलॉजी कोर्स में भी सीट मिल गयी। एम्स के प्रोफ़ेसरों ने खलीलुल्लाह को कोर्स ज्वाइन करने की सलाह दी। खलीलुल्लाह ने अपने घर जाकर परिवारवालों से सलाह-मशवरा करने के बाद कोई फ़ैसला करने की बात कही। खलीलुल्लाह ने बताया, "मैंने 2 जनवरी, 1966 को दिल्ली में पहली बार क़दम रखा था। मेरी वालिदा नहीं चाहती थीं कि मैं नागपुर से कहीं बाहर जाकर काम करूँ। मैंने वालिदा से कहा था कि एग्जाम के बहाने मैं दिल्ली देखकर आऊँगा। लेकिन जब मेरा सिलेक्शन हो गया, तब मेरी उलझन भी बढ़ गयी। घरवालों से मशवरा लेने की बात कहकर मैं एम्स से लौट गया था। जब मैं वापस नागपुर पहुँचा और अपनी वालिदा से एम्स में सिलेक्शन की बात बतायी, तब उन्होंने मुझे दिल्ली भेजने से सख़्त मना कर दिया। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ। एक तरफ़ प्रोफ़ेसर ज्वाइन करने के लिए मुझपर दबाव बना रहे थे, वहीं वालिदा इसके सख़्त ख़िलाफ़ थीं।" नागपुर मेडिकल कॉलेज के प्रोफ़ेसर बी.जे. सूबेदार ने खलीलुल्लाह को दुविधा की इस स्थिति से बाहर निकाला। उन दिनों जब प्रोफ़ेसर सूबेदार ने देखा कि खलीलुल्लाह काफ़ी असहज नज़र आ रहे हैं, तब उन्होंने उनसे इसकी वजह पूछी थी। खलीलुल्लाह ने प्रोफ़ेसर सूबेदार को सारी बात बता दी। इसके बाद प्रोफ़ेसर सूबेदार ख़ुद खलीलुल्लाह के घर गये और उनकी वालिदा को समझाया कि उनके बेटे के भविष्य के लिए यही अच्छा है कि वे एम्स से डीएम की पढ़ाई करें। प्रोफ़ेसर सूबेदार की बातों से संतुष्ट होकर

वालिदा ने खलीलुल्लाह को दिल्ली जाने और एम्स से डीएम की पढ़ाई करने की इजाज़त दे दी।

7 फरवरी, 1966 को खलीलुल्लाह ने एम्स में डीएम-कार्डियोलॉजी की पढ़ाई शुरू की। एम्स में डीएम-कार्डियोलॉजी कोर्स का यह तीसरा साल था। खलीलुल्लाह के बैच से पहले सिर्फ़ दो बैचों ने ही डीएम-कार्डियोलॉजी कोर्स किया था। उन दिनों भारत में सिर्फ़ दो ही चिकित्सा-संस्थाओं में डीएम-कार्डियोलॉजी कोर्स पढ़ाया जाता था - एक एम्स था और दूसरा वेल्लूर का मेडिकल कॉलेज। 60 के दशक में भारत में दिल के डॉक्टर बहुत ही कम थे। इतना ही नहीं, दिल की अलग-अलग बीमारियों और उनके इलाज के बारे में लोगों को ज़्यादा जानकारी भी नहीं थी। जनरल फिज़िशियन ही दिल की बीमारियों का ही इलाज किया करते थे। एमडी की पढ़ाई के दौरान ही डॉक्टरी विद्यार्थियों को दिल की बीमारी और उनके इलाज के बारे में बताया जाता था। एमडी की पढ़ाई के दौरान ही खलीलुल्लाह का 'दिल' के प्रति आकर्षण परवान चढ़ चुका था। उन दिनों वे अपने कुछ साथियों के साथ मिलकर हफ़्ते में 300 से ज़्यादा ईसीजी देखा करते थे। खलीलुल्लाह के दिलोदिमाग़ में भी यह बात गाँठ बाँधकर बैठ गयी थी कि उन्हें भी दिल के मरीज़ों का इलाज करना है, ताकि लोग उनके पिता की तरह छोटी उम्र में ही इस दुनिया को अलविदा न कह दें।

एम्स में खलीलुल्लाह ने दिल की बीमारियों और उनका इलाज करने के तौर-तरीक़ों को दिल लगाके सीखा और समझा। एम्स में पढ़ाई के दौरान ही खलीलुल्लाह ने वह कर दिया, जो कि उनका सबसे बड़ा ख़्वाब था - कुछ नया और बड़ा करने का ख़्वाब। विद्यार्थी-जीवन में ही खलीलुल्लाह ने भारत का पहला कृत्रिम पेसमेकर बना दिया। कृत्रिम पेसमेकर एक ऐसा चिकित्सा उपकरण है, जो दिल की धड़कन को नियंत्रित रखता है। कृत्रिम पेसमेकर को इंसानी दिल के साथ ऑपरेशन कर लगाया जाता है। इसका मुख्य काम है - दिल की गति/धड़कनों को उस समय बढ़ाना, जब ये बहुत धीमी हो जाती हैं और उस समय धीमा करना, जब दिल की गति/धड़कनें बहुत तेज़ हो जाती हैं। यानी दिल की धड़कनों के अनियमित होने की दशा में यह कृत्रिम पेसमेकर दिल की धड़कनों को नियंत्रित रूप से धड़कने में मदद करता है। खलीलुल्लाह ने जो भारत का पहला कृत्रिम पेसमेकर बनाया, वह उन्हीं के नाम से यानी केएम पेसमेकर के नाम से बिका। भारत का पहला कृत्रिम पेसमेकर बनाने का गौरव हासिल करने पर देश-भर में खलीलुल्लाह की ख़ूब तारीफ़ हुई। हर तरफ़ उनकी इस बड़ी कामयाबी की चर्चा हुई। देश के राष्ट्रपति ने इस नायाब कामयाबी के लिए खलीलुल्लाह को दो अवार्डों से नवाज़ा था।

एम्स से डीएम-कार्डियोलॉजी की डिग्री लेने के बाद खलीलुल्लाह ने वहीं से अपने शिक्षक-जीवन की शुरूआत की। वे एम्स में काम कर रहे थे, तभी उन्हें एक बड़ा ऑफर मिला। साल 1970 में उन्हें पुणे के गवर्नमेंट चेस्ट हॉस्पिटल में कार्डियोलॉजी डिपार्टमेंट का हेड बनाने की पेशकश की गयी। इस पेशकश से भी खलीलुल्लाह पशोपेश में पड़ गये। एम्स उस समय भारत का सबसे बड़ा चिकित्सा संस्थान था, लेकिन पुणे में उन्हें कार्डियोलॉजी डिपार्टमेंट का हेड बनाया जा रहा था, जो कि बहुत बड़ी बात थी। पुणे जाकर उन्हें प्रैक्टिस भी करनी थी, यानी मरीज़ों का हर दिन इलाज भी करना था, जो कि उन्होंने अब तक शुरू नहीं किया था। दुविधा इस बात को लेकर भी थी कि पुणे में ओहदा और ज़िम्मेदारी-दोनों बड़ी तो थीं, लेकिन तनख़्वाह कम थी। पुणे में कार्डियोलॉजी डिपार्टमेंट के हेड को महीने पचास रूपये तनख़्वाह मिलनी तय थी। इस बार भी खलीलुल्लाह ने अपने डॉक्टरी गुरुओं से सलाह-मशवरा किया और आख़िरकार पुणे जाने का फ़ैसला लिया।

जब खलीलुल्लाह गवर्नमेंट चेस्ट हॉस्पिटल में कार्डियोलॉजी डिपार्टमेंट के हेड बनकर पुणे गये, तब वे पूरे महाराष्ट्र राज्य में अकेले ऐसे डॉक्टर थे, जिनके पास डीएम की डिग्री थी। गवर्नमेंट चेस्ट हॉस्पिटल में काम करते हुए भी खलीलुल्लाह ने कई ऐसे काम किये, जो कि पहले पूरे महाराष्ट्र में नहीं हुए थे। खलीलुल्लाह की कोशिशों और पहल की वजह से ही गवर्नमेंट चेस्ट हॉस्पिटल में ओपन हार्ट सर्जरी की शुरुआत हुई। इतना ही नहीं, महाराष्ट्र में ओपन हार्ट और क्लोज़ हार्ट सर्जरी की भी शुरुआत महाराष्ट्र में पुणे के गवर्नमेंट चेस्ट हॉस्पिटल से ही हुई। वैसे तो खलीलुल्लाह ख़ुद हार्ट सर्जरी नहीं करते थे, लेकिन सर्जरी के दौरान उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती थी। खलीलुल्लाह इंट्राऑपरेशन सपोर्ट दिया करते थे।

क़रीब एक साल पुणे में काम करने के बाद खलीलुल्लाह को एहसास हुआ कि उनकी दिलचस्पी लोगों को पढ़ाने और ट्रेनिंग देने में है। खलीलुल्लाह ने शिक्षक बनने की ठान ली और शिक्षण के मक़सद से वे वापस दिल्ली चले आये। दिल्ली में वे गोविंदवल्लभ पंत अस्पताल से जुड़ गये। उन्होंने इस मशहूर अस्पताल में अपने शिक्षक जीवन की शुरुआत बतौर लेक्चरर की। आगे चलकर वे असिस्टेंट प्रोफ़ेसर, फिर एसोसिएट प्रोफ़ेसर और फिर प्रोफ़ेसर बने। खलीलुल्लाह गोविंदवल्लभ पंत अस्पताल में कार्डियोलॉजी डिपार्टमेंट के हेड भी बने और डायरेक्टर-प्रोफ़ेसर के रूप में भी इस चिकित्सा-संस्थान को अपनी सेवाएँ दीं।

खलीलुल्लाह ने बताया कि डॉक्टरी की पढ़ाई के दौरान उन्हें कुछ ऐसे गुरु मिले, जिनके प्रभाव में उनके मन में भी उन्हीं की तरह गुरु बनने की इच्छा जागृत हुई

थी। डॉ. बेर्री, डॉ. सूबेदार और डॉ. सुजोय रॉय का नाम गिनाते हुए खलीलुल्लाह ने कहा कि ये तीनों मेरे रोल मॉडल थे। वे कहते हैं, "मैं भी अपने इन्हीं प्रोफ़ेसरों की तरह बनना चाहता था। और वैसे भी टीचिंग में एक अलग मज़ा है। यह मज़ा अगर किसी को लग जाता है, तो वह उसे कभी भूल नहीं सकता। मुझे भी टीचिंग का मज़ा लग गया था और मैंने पढ़ाना शुरू किया।"

खलीलुल्लाह ने क़रीब पच्चीस साल तक गोविंदवल्लब पंत अस्पताल के ज़रिये देश की सेवा की। उन्होंने क़रीब 250 डॉक्टरों को 'दिल का डॉक्टर' बनाने में सबसे अहम किरदार निभाया है। देश के अलग-अलग चिकित्सा और शिक्षण संस्थान में उन्होंने परीक्षा लेकर 500 से ज़्यादा डॉक्टरों को 'दिल का डॉक्टर' बनने के योग्य घोषित किया है। डीएम और डीएनबी जैसे सुपरस्पेशलिटी कोर्स की कई सारी परीक्षाओं में खलीलुल्लाह ने परीक्षक का भी काम किया है। खलीलुल्लाह से इंसानी दिल, दिल की बीमारियों और उसके इलाज के बारे में सीखकर 'दिल का डॉक्टर' बने चिकित्सक दुनिया-भर में फैले हुए हैं और लोगों का इलाज करते हुए लोगों की सेवा कर रहे हैं। खलीलुल्लाह की क्लास में पढ़े हुए कई सारे डॉक्टरी विद्यार्थियों की गिनती देश के सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय कार्डियोलॉजिस्टों में होती है। उनके कई सारे शागिर्द आज देश के बड़े-बड़े चिकित्सा-संस्थानों में बड़े-बड़े ओहदों पर बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियाँ संभाल रहे हैं। एक मायने में खलीलुल्लाह ने भारत में ख़राब दिलों का इलाज करने वाले दिल के डॉक्टरों के एक बहुत बड़ी और ताक़तवर फ़ौज खड़ी की है। पूछे जाने पर खलीलुल्लाह ने बताया कि डॉ. मोहन नायर, डॉ. बलबीर सिंह और डॉ. गंभीर - ये तीनों ही उनके सबसे प्रिय शिष्य हैं। वे कहते हैं, "मैंने जिन लोगों को पढ़ाया है, उन्होंने ख़ूब नाम कमाया - अपने लिए, मेरे लिए, देश के लिए। मुझे गर्व है अपने सभी स्टूडेंट्स पर। मेरे कई सारे स्टूडेंट्स इन दिनों कामयाबियों की बुलंदी पर हैं। मुझे इस बात की ख़ुशी है कि कुछ तो मुझसे भी आगे निकल गये।"

इतना ही नहीं, यह खलीलुल्लाह की पहल का ही नतीजा था कि भारत में दिल की बीमारियों से जुड़े इलाज के नये तौर-तरीक़ों की शुरुआत भारत में गोविंदवल्लभ पंत अस्पताल से ही हुई। खलीलुल्लाह ने अमेरिका, यूरोप और दूसरे महाद्वीपों के अलग-अलग देशों से दिल के बड़े-बड़े डॉक्टरों और सर्जनों को बुलवाकर गोविंदवल्लभ पंत अस्पताल में ख़राब दिल के इलाज की नयी-नयी तकनीकों और शल्य-चिकित्सा की पद्धतियों को आज़माया। मार्च, 1975 में खलीलुल्लाह ने भारत में पहली बार कार्डियक इलेक्ट्रोफिज़ीआलजी प्रक्रिया की शुरुआत करवायी। इसके बाद उन्होंने भारत में इन्टर्वेन्शन कार्डियोलॉजी के कांसेप्ट को भी अमलीजामा पहनाया। इस कांसेप्ट/चिकित्सा पद्धति की वजह से भारत में बिना सर्जरी के भी

दिल की बीमारियों का इलाज मुमकिन हो पाया। भारत में पहली बलून वाल्वोप्लास्टी करवाने का श्रेय भी खलीलुल्लाह को ही जाता है। बलून वाल्वोप्लास्टी की वजह से जटिल और जोखिम-भरी सर्जरी के बिना भी दिल की बीमारियों का इलाज शुरू हो पाया। खलीलुल्लाह की पहल की वजह से ही अमेरिका से दिल के डॉक्टरों की एक टीम भारत आयी थी और इस टीम ने भारतीय डॉक्टरों के साथ मिलकर भारत में पहली बार बलून एंजियोप्लास्टी की। यह बलून एंजियोप्लास्टी गोविंदवल्लभ पंत अस्पताल में ही हुई थी और एक लड़के पर की गयी। भारत में चिकित्सा-क्षेत्र के इतिहास में यह घटना स्वर्ण अक्षरों में दर्ज़ है। बड़ी बात यह भी है कि इस चिकित्सा-पद्धति की वजह से मरीज़ के शरीर पर सर्जरी से होने वाले चीर-फाड़ के निशान भी नहीं होते हैं और मरीज़ को ज़्यादा दिनों के लिए अस्पताल में रहने की भी ज़रूरत नहीं होती। खलीलुल्लाह के इन्टर्वेन्शन कार्डियोलॉजी के कांसेप्ट से भारत में चिकित्सा के क्षेत्र में एक नयी और सकारात्मक क्रांति आयी और दिल की बीमारियों का इलाज करने का काम आसान और बेहद सुरक्षित हुआ। दिल की बीमारियों के इलाज के लिए दुनिया में अपनायी जा रही सर्वश्रेष्ठ और अत्याधुनिक तकनीकों और चिकित्सा-पद्धतियों को भारत के चिकित्सा संस्थानों में अपनाया जाने लगा है, तो इसके पीछे खलीलुल्लाह की भी महत्वपूर्ण भूमिका है। खलीलुल्लाह ने यह सुनिश्चित किया है कि विदेश में दिल की बीमारियों के इलाज में जो कुछ अच्छा और नया काम होता है, उससे भारत को भी फ़ायदा मिले। भारतीय और विदेशी डॉक्टरों के बीच में ज्ञान-विज्ञान की बातों का आदान-प्रदान का सिलसिला मज़बूत हुआ है, तो इसमें भी खलीलुल्लाह का योगदान बहुत ही बड़ा है। देश को कई सारे 'दिल का डॉक्टर' देने वाले खलीलुल्लाह ने इंसानी दिल की बीमारियों और उनके इलाज पर काफ़ी शोध-अनुसंधान और अध्ययन किया है। उन्होंने कई सारे शोध-पत्र लिखे हैं और ये शोध-पत्र देश और दुनिया की बड़ी-बड़ी पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित होते रहते हैं।

चिकित्सा-क्षेत्र में अमूल्य योगदान के लिए खलीलुल्लाह को देश और विदेश में कई बड़े पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। साल 1984 में उन्हें भारत में चिकित्सा-क्षेत्र के सबसे बड़े अवार्ड यानी डॉ. बी.सी. रॉय अवार्ड से अलंकृत किया गया। साल 1984 में ही उन्हें भारत सरकार ने 'पद्मश्री' से नवाज़ा। साल 1990 में भारत सरकार ने उन्हें 'पद्मभूषण' की उपाधि प्रदान की। उन्हें मिले अवार्डों की सूची बहुत ही लम्बी है। खलीलुल्लाह को नागपुर विश्वविद्यालय ने साल 1988 में डॉक्टर ऑफ साइंस (मेडिसिन) की मानद उपाधि भी प्रदान की। खलीलुल्लाह कहते हैं, "जिस यूनिवर्सिटी से मैंने पढ़ाई की, उसी यूनिवर्सिटी ने मुझे डॉक्टर ऑफ साइंस

की आनरेरी डिग्री दी और इसी को मैं अपने जीवन का सबसे बड़ा अवार्ड मानता हूँ।" खलीलुल्लाह ने यह भी कहा, "मैं उन सब का शुक्रगुज़ार हूँ, जिन्होंने मुझे अवार्ड दिये। मैं भारत सरकार का भी शुक्रगुज़ार हूँ, क्योंकि सरकार ने मुझे 'पद्मश्री' और 'पद्मभूषण' अवार्ड दिये। मैं ख़ादिम हूँ देश का, ख़ादिम हूँ जनता का। मुझे अवार्ड मिले, कई सारे अवार्ड मिले, इसकी बहुत ख़ुशी है मुझे, लेकिन मुझे इस बात की सबसे ज़्यादा ख़ुशी है कि मेरी ज़िंदगी बेकार नहीं गयी। मैंने देश के लिए काम किया, इस बात का गर्व है मुझे। मुझे इस बात का भी गर्व है कि मैंने देश की सेवा की और जब तक मैं ज़िंदा हूँ, देश की सेवा करता ही रहूँगा।"

ग़ौर देने वाली बात यह भी है कि अगर खलीलुल्लाह चाहते तो वे भी अमेरिका, इंग्लैंड, जर्मनी, जापान जैसे देशों में जाकर या तो प्रैक्टिस कर सकते थे या टीचिंग। दुनिया के कई बड़े चिकित्सा-संस्थानों से उन्हें बड़े ओहदे और तगड़ी तनख़्वाह की पेशकश भी की गयी। लेकिन खलीलुल्लाह ने भारत में रहकर अपने हमवतन लोगों की सेवा करने के रास्ते को ही चुने। यह बात मादर-ए-वतन से उनकी बेइंतिहा मोहब्बत को दर्शाती है।

खलीलुल्लाह की उम्र 80 के पार हो चुकी है, लेकिन वे अब भी लोगों की सेवा में उतने ही सक्रिय हैं, जितने की अपनी जवानी के दिनों में थे। इन दिनों खलीलुल्लाह की कोशिश है कि भारत में दिल की बीमारियों का इलाज इतना सस्ता हो जाय कि ग़रीब से ग़रीब इंसान भी अपने ख़राब हुए दिल का इलाज आसानी से करा सके। उन्हें इस बात की पीड़ा है कि भारत में कई लोग अब भी ग़रीब हैं और इस वजह से अपने दिल की बीमारी का इलाज नहीं करवा पा रहे हैं, क्योंकि इलाज काफ़ी महँगा है और वे इलाज के ख़र्च का भार नहीं उठा सकते हैं। वे चाहते हैं कि सरकारी और ग़ैर-सरकारी संस्थाओं के साथ मिलकर कुछ ऐसा काम करें, जिससे कोई भी मरीज़ अस्पताल आकर बिना इलाज करवाये इस वजह से न लौटे, क्योंकि उसके पास रुपये नहीं हैं। खलीलुल्लाह की दिली तमन्ना है कि वे जीतेजी भारत में वह दिन देखें, जब ग़रीब इंसान भी पूरी ज़िंदगी जियें और उन्हें अपनी बीमारियों का इलाज करवाने में तकलीफ़ न हो।

इस महान शख़्सियत से जब यह पूछा गया कि इंसानी दिल की ऐसी कौन-सी बात है, जो उन्हें उन्हें बेहद पसंद है, तब उन्होंने कहा, "इंसान का सारा दारोमदार दिल पर है। दिल चलता है, तो दिमाग़ चलता है, बदन चलता है, फ़ेफड़े चलते हैं। दिल न चले, तो कुछ न चलेगा। लेकिन दिल का कंट्रोल दिमाग़ ही करता है। दिल शरीर का वह ऑर्गन है, जो सबसे ज़्यादा हार्ड-वर्किंग है। आपका दिमाग़ आराम कर सकता है, दूसरे ऑर्गन आराम कर सकते हैं, लेकिन दिल आराम नहीं करता और

चलता ही रहता है। दिल एक मैजिकल पम्प है और इसके काम करने का तरीक़ा अपना अलग है। शरीर का कोई दूसरा ऑर्गन हार्ट से मुक़ाबला नहीं कर सकता।"

हमने इस बेहद ख़ास मुलाक़ात के दौरान खलीलुल्लाह से यह भी पूछा कि उन्हें अपने दिल की सबसे दिलचस्प बात क्या लगती है, इस सवाल का जवाब देते हुए वे बहुत ही भावुक हो गये। एक बार फिर उनकी आँखों से आँसू बहने लगे। किसी तरह अपने जज़्बातों पर काबू पाकर खलीलुल्लाह ने कहा, "मेरा दिल बहुत ही कमज़ोर है। किसी और का दर्द हमारे दिल में होता है।" ये हक़ीक़त है कि दिल का बहुत बड़ा जानकार होने और देश और दुनिया के माने हुए वैज्ञानिक और शिक्षक होने के साथ-साथ खलीलुल्लाह एक धर्म-परायण, परोपकारी, बेहद ईमानदार और जज़्बाती इंसान हैं। वे कहते हैं, "मुझसे दूसरों का दुख-दर्द देखा नहीं जाता। जब मैं दूसरों को तकलीफ़ में देखता हूँ, तो मुझे बहुत तकलीफ़ होती है।" लोगों के दिल की बीमारियों को दूर करने के अलावा उन्हें ख़ुदा की इबादत करने, संगीत सुनने, बागवानी करने और अपने नातों और नातियों के साथ खेलने में मज़ा आता है। डॉ. खलीलुल्लाह दिल्ली में इन दिनों 'द हार्ट सेंटर' के नाम से अपना अस्पताल चला रहे हैं और यहीं पर वे दिल के मरीज़ों का इलाज भी करते हैं।

इंसानी दिल जितनी दिलचस्प है दिल के डॉक्टर अशोक सेठ की कामयाबी की कहानी

डॉ. अशोक सेठ दिल के ऐसे डॉक्टर हैं, जिनकी लोकप्रियता और प्रसिद्धि भारत-भर में ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर में व्याप्त है। इंसानी दिल के कामकाज के तरीक़ों, दिल से जुड़ी बीमारियों और उनके इलाज के वे बहुत बड़े जानकार हैं। दिल की बीमारियों के इलाज की अलग-अलग चिकित्सा-पद्धतियों में उन्होंने महारत हासिल की हुई है। वे हज़ारों मरीज़ों का इलाज कर चुके हैं। लोगों को दिल की बीमारियों से मुक्ति दिलवाने का उनका काम अब भी बेरोकटोक जारी है। अशोक सेठ ने भारत में दिल की बीमारियों के इलाज की प्रक्रिया को न सिर्फ़ एक ऊँचे मुक़ाम पर पहुँचाया है, बल्कि अपनी उपलब्धियों से यह साबित किया है कि बुद्धिमत्ता, कौशल, मेहनत और प्रतिभा के मामले में भारत के डॉक्टर और वैज्ञानिक किसी से कम नहीं हैं। अपने गौरवशाली डॉक्टरी जीवन में डॉ. सेठ ने कई ऐसे काम किये हैं, जो कि उनके पहले किसी अन्य भारतीय ने नहीं किये। वे अब तक 50 हज़ार से ज़्यादा एंजियोग्राफी और 25 हज़ार से ज़्यादा एंजियोप्लास्टी प्रोसीजर कर चुके हैं। इस कीर्तिमान और अभूतपूर्व कार्य के लिए डॉ. अशोक सेठ का नाम लिम्का बुक ऑफ रिकार्ड्स में भी दर्ज़ किया जा चुका है। उन्होंने भारत ही नहीं, बल्कि कई सारे विदेशी डॉक्टरों को भी दिल की बीमारियों के इलाज की सबसे प्रभावी और सुरक्षित चिकित्सा-पद्धतियाँ सिखायी हैं। चिकित्सा-क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार उन्हें पहले 'पद्मश्री' और फिर बाद में 'पद्मभूषण' उपाधि से भी सम्मानित कर चुकी है। वे डॉ. बी.सी. रॉय अवार्ड भी पा चुके हैं। उन्हें मिले राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय

पुरस्कारों की सूची बहुत लम्बी है। डॉ. अशोक सेठ की कहानी भी कामयाबी की बहुत-ही सुंदर और शानदार कहानी है। यह कहानी भी लोगों को प्रेरणा देने वाली है, अच्छे काम करने के लिए प्रोत्साहित करने वाली है। डॉ. सेठ की कहानी के कई सारे पहलू बेहद रोचक और रोमांचक भी है। जीवन को सफल बनाने के मंत्र भी डॉ. अशोक सेठ की कहानी में छिपे हुए हैं। यहाँ डॉ. अशोक सेठ के जीवन से जुड़ी कुछ महत्वपूर्ण बातें, घटनाएँ और पहलू पेश किये जा रहे हैं। यही उम्मीद है कि इन्हें पढ़ने के बाद लोगों को सीखने और समझने को कुछ नयी और उपयोगी बातें मिलेंगी।

1. बचपन में ख़ूब खेला डॉक्टर-पेशेंट का खेल

बच्चे अक्सर 'डॉक्टर-डॉक्टर' खेल खेला करते हैं। बच्चों के दल में जो सबसे तेज़ और बुद्धिमान होता है, वह अमूमन डॉक्टर बनता है। कोई डॉक्टर का असिस्टेंट बनता है, कोई नर्स बनता है, कोई कम्पाउण्डर। किसी न किसी को मरीज़ भी बनना पड़ता है। अशोक के पिता डॉक्टर थे। दिन-रात डॉक्टरी करते थे। मरीज़ों का उनके यहाँ आना-जाना लगा ही रहता था। बालक अशोक बड़े ग़ौर से देखते थे कि उनके पिता किस तरह से मरीज़ों का इलाज कर रहे हैं। छोटी-सी उम्र में ही अशोक ने जान लिया था कि डॉक्टर हर मरीज़ की नाड़ी देखता है, स्टेथोस्कोप को पहले छाती और फिर पीठ पर इधर-उधर घुमाता है। कभी-कभार डॉक्टर मरीज़ की आँख का भी परीक्षण करता है। और कभी-कभी डॉक्टर मरीज़ को अपना मुँह खोलने के लिए कहता है और फिर टोर्च की रोशनी में मुँह में कुछ देखता है। बुख़ार की शिकायत करने पर डॉक्टर मरीज़ की जीभ के नीचे थर्मामीटर लगाकर यह देखता है कि बुख़ार है या नहीं। सारे परीक्षण होने के बाद डॉक्टर मरीज़ को दवाइयाँ देता है और उसे कब और कैसे खाना है, यह भी बताता है। हालत ज़्यादा ख़राब होने पर डॉक्टर मरीज़ को सुई भी लगता है। बालक अशोक हर दिन यह भी देखा करते थे कि जो मरीज़ उनके पिता की दवाइयों से ठीक हो जाते थे, वे उन्हें ख़ूब दुआएँ देते थे। मरीज़ों के शुक्रिया-अदा करने का सिलसिला थमता ही नहीं था। एक डॉक्टर के नाते जो प्यार और सम्मान पिता को मिलता था, उसका बहुत ही गहरा असर अशोक के बाल मन-मस्तिष्क पर पड़ा था। अशोक को यह एहसास हो गया था कि डॉक्टर आम आदमी नहीं है और उसकी लोगों के बीच ख़ास पहचान और अहमियत होती है। डॉक्टर के पास हर दर्द को दूर करने वाली दवाई होती है और जब दर्द ज़्यादा होता है, तो वह सुई लगाकर दर्द को दूर भगाता है। अपने डॉक्टर पिता के प्रभाव में अशोक ने भी डॉक्टर बनने की ठान ली। उम्र छोटी थी और स्वाभाविक था कि वे जानते नहीं थे कि डॉक्टर आख़िर बना कैसे जाता है। लेकिन उन्होंने छोटी उम्र

से ही वह सब करना शुरू कर दिया, जो कि उनके पिता मरीज़ों का इलाज करते समय किया करते थे। यानी 'डॉक्टर-पेशेन्ट' का खेल शुरू हो गया।

अशोक का दिमाग़ शुरू से ही तेज़ था। स्वभाव भी चंचल था। आम बच्चों की तरह ही शरारती भी थे। एक दिन उन पर 'डॉक्टर' बनने का भूत सवार हुआ। कोई 'मरीज़' मिला नहीं। इसीलिए उन्होंने अपनी बहन की एक गुड़िया ली और उसे मरीज़ बनाया। गुड़िया का परीक्षण करने के बाद डॉक्टर बने अशोक इस नतीज़े पर पहुँचे कि मरीज़ की हालत बहुत ही ख़राब है। फिर क्या था, डॉक्टर साहब ने सुई ली और फिर एक के बाद एक करते हुए गुड़िया को कई बार सुई लगा डाली। सुई लगाना देखा तो था, लेकिन अशोक ये नहीं जानते थे कि सुई कहाँ, कैसे, कब, क्यों और कितनी बार लगायी जाती है। उस समय अशोक को लगा कि गुड़िया की हालत इतनी ख़राब है कि उसे कई बार सुई लगानी चाहिए। गुड़िया के शरीर भर में सुई लगाये जाने से हालत यह हुई कि उसकी शक्लोसूरत बिगड़ गयी। वह गुड़िया खिलौना न रहकर छन्नी बन गयी। और जब बहन ने देखा कि उनकी सबसे प्यारी गुड़िया को तहस-नहस कर दिया गया है, तब ख़ूब हायतौबा मची। अशोक की हरकत देखकर माँ भी हैरान रह गयीं। अशोक को लगा कि अब पिता उनकी 'क्लास' लेंगे, उन्हें जमकर फटकार लगायी जाएगी। लेकिन हुआ कुछ और ही। पिता ने जब इस वाकये के बारे में जाना, तब उन्हें एहसास हो गया कि उनके लाड़ले में डॉक्टर बनने की इच्छा जन्म ले चुकी है और यह इच्छा बलवती होती जा रही है।

गुड़िया के 'इलाज' के बाद जब पिता ने वैसा नहीं किया जिसका कि डर था, तब अशोक पर 'डॉक्टर-डॉक्टर' खेलने का जुनून सवार हो गया। उन्हें अब मरीज़ों की तलाश रहने लगी। खिलौने वाले मरीज़ नहीं, बल्कि इंसानी मरीज़। एक दिन अशोक को इलाज करने के लिए एक मरीज़ मिल ही गया। उनके पड़ोस में रहने वाला चार साल का उनका एक दोस्त उनके पास आया और उन्हें बताया कि उसे पेट में दर्द हो रहा। महज़ छह साल के अशोक के दिमाग़ में बत्ती जली और उन्हें लगा कि इस बार न सिर्फ़ डॉक्टर बनने का मौक़ा मिला है, बल्कि वे मरीज़ का ऑपरेशन भी कर सकते हैं। फिर क्या था, अशोक ने ऑपरेशन के लिए ज़रूरी सामान जुटाना शुरू किया। अशोक जानते थे कि ऑपरेशन करने का सामान उनके पिता एक अलमारी के ऊपर रखा करते थे। जहाँ पर ऑपरेशन का सामान था, वहाँ तक छह साल के नन्हे बालक के हाथ नहीं पहुँच सकते थे। लम्बे अरसे बाद मरीज़ मिला था, इसी वजह से अशोक मौक़े को अपने हाथ से गँवाना नहीं चाहते

थे। अशोक ने टेबल लिया और ऊपर दूसरा टेबल रखा और ऑपरेशन के लिए ज़रूरी सामान तक पहुँच गये। ब्लेड, कैंची, सुई, रुई सब हाथ लगते ही अशोक ने अपने चार साल के पड़ोसी दोस्त को टेबल पर लिटाया और उसके पेट पर कपड़ा डाला। अशोक अपने हाथ में सर्जेरी के दौरान इस्तेमाल में लाये जाने वाले सर्जिकल स्काल्पेल ब्लेड लेकर अपने दोस्त का पेट चीरने जा ही रहे थे कि अचानक उनके पिता ने देख लिया। पहले तो उन्हें कुछ समझ में नहीं आया कि क्या होने जा रहा था, लेकिन जब पिता ने अशोक और उनके दोस्त से सारा घटना-क्रम सुना, तब उनके हैरानी की कोई सीमा न रही। पिता ने भगवान का शुक्रिया अदा किया कि उन्हें सही समय पर ऑपरेशन थिएटर पहुँचा दिया, वरना उनके 'डॉक्टर बेटा' के 'डॉक्टर-पेशेंट' में उस चार साल के मासूम का न जाने क्या हो जाता।

2. कामयाबी के पीछे है नाकामी की नायाब कहानी

अशोक ने छोटी-उम्र में ठान लिया था कि वे भी अपने पिता की तरह ही डॉक्टर बनेंगे और लोगों का इलाज करते हुए उनका आशीर्वाद लेंगे। पिता की भी यही इच्छा थी कि उनका इकलौता और लाड़ला बेटा उनकी विरासत को आगे बढ़ाये। अशोक का दिमाग़ तेज़ था, लेकिन मेडिकल कॉलेज में दाख़िले के लिए काफ़ी मेहनत करनी पड़ी और तीन साल का लम्बा इंतज़ार भी। दसवीं की परीक्षा उम्दा नंबरों से पास करने के बाद अशोक ने इंटर में बायोलॉजी को अपना मुख्य विषय बनाया। बारहवीं के बाद हुए प्री-मेडिकल टेस्ट में अशोक का प्रदर्शन अच्छा नहीं रहा और उन्हें मेडिकल कॉलेज में दाख़िले की योग्यता नहीं मिली। पहला एटेम्पट बेकार ही गया। इसके बाद अशोक ने दुबारा से प्री-मेडिकल टेस्ट लिखने और इस बार हर हाल में पास होने के संकल्प के साथ तैयारी शुरू की। लेकिन प्री-मेडिकल कॉलेज की तैयारी में सारा एक साल जाया न जाय, इसके लिए उनका दाख़िला डिग्री कॉलेज में करवा दिया गया। अशोक ने बी.एससी. कोर्स ज्वाइन कर लिया। दूसरी बार प्री-मेडिकल टेस्ट की तैयारी पिछली बार के मुक़ाबले तगड़ी थी, लेकिन इतनी भी तगड़ी नहीं थी कि वे पास हो जाते। दूसरे साल भी अशोक मेडिकल कॉलेज में दाख़िला पाने से चूक गये। लगातार दो साल की नाकामयाबी ने अशोक और उनके पिता को काफ़ी निराश किया। पिता का बस एक ही सपना था - उनका बेटा अशोक डॉक्टर बने। अशोक का भी एक ही लक्ष्य था - डॉक्टर बनना और अपने पिता के सपने को पूरा करना। लेकिन मेहनत के बावजूद मेडिकल कॉलेज में दाख़िले की योग्यता नहीं मिल रही थी। आम तौर पर ज़्यादातर विद्यार्थी दो कोशिशों में नाकामी के बाद प्री-मेडिकल टेस्ट देना बंद कर देते हैं और डॉक्टर

बनने का सपना छोड़कर दूसरी लाइन पकड़ लेते हैं। लेकिन अशोक ने तीसरी बार भी प्री-मेडिकल टेस्ट देने का फ़ैसला किया। दो साल की नाकामियों की वजह से निराशा थी, उदासी थी, लेकिन उम्मीदें मरी नहीं थीं, सपना भी ज़िंदा था। अशोक ने बी.एससी. की पढ़ाई जारी रखते हुए प्री-मेडिकल टेस्ट की तैयारी नये सिरे से शुरू की। तीसरे साल की प्री-मेडिकल टेस्ट में अशोक को रैंक तो अच्छा मिला, लेकिन उनका नाम वेटिंग लिस्ट यानी प्रतीक्षा सूची में रखा गया। उत्तरप्रदेश के जवाहरलाल नेहरु मेडिकल कॉलेज की सेकंड वेटिंग लिस्ट में अशोक का नाम आया था। मुख्य सूची में जिन विद्यार्थियों को जगह मिली थी, उनके कॉलेज में दाख़िला न लेने की स्थिति में पहली प्रतीक्षा सूची के विद्यार्थियों से खाली स्थानों की पूर्ति होनी थी। पहली प्रतीक्षा सूची के विद्यार्थियों को भी सीट मिलने पर उनके दाख़िला न लेने की स्थिति में दूसरी प्रतीक्षा सूची के विद्यार्थियों को उनके रैंक के आधार पर सीट मिलने का नियम था। ऐसे में अशोक को सीट मिलने की संभावनाएँ काफ़ी कम थीं। लेकिन शायद क़िस्मत ने उनकी मेहनत और लगन की ताक़त को मान लिया था और उन्हें अलीगढ़ मेडिकल कॉलेज में सीट मिल गयी। तीसरे साल भी अगर अशोक को सीट नहीं मिलती, तो शायद वे भी डॉक्टर बनने का सपना छोड़ देते।

संघर्ष के उन दिनों में एक समय ऐसा भी आया था कि जब अशोक ने साइंस को ही अलविदा कहने का मन बना लिया था। अशोक ने अपने पिता से भी कह दिया था कि वे अब साइंस नहीं पढ़ना चाहते हैं और उनकी इच्छा बी.कॉम. करने की है। उन दिनों ज़्यादातर मेधावी विद्यार्थी या तो डॉक्टर बनने का सपना देखते थे, या फिर इंजीनियर बनने का। जिन लोगों को लगता था कि उनका दिमाग़ इतना तेज़ नहीं है कि वे इंजीनियर या डॉक्टर नहीं बन सकते, वैसे लोग आर्ट्स या कॉमर्स की लाइन पकड़ते थे। प्री-मेडिकल टेस्ट में नाकामी के बाद अशोक को भी लगने लगा था कि वे डॉक्टर नहीं बन सकते। अशोक के मन भी अजीब-अजीब ख़्याल आने लगे थे। भविष्य को लेकर कई सवाल खड़े होने लगे थे। असमंजस की स्थिति थी। निराशा और मायूसी भी अपनी पकड़ मज़बूत बना रही थीं। लेकिन उनके पिता ने उन्हें प्रोत्साहित किया और कोशिश करते रहने के लिए प्रेरित किया। इसी प्रोत्साहन और प्रेरणा का यह नतीजा रहा कि अशोक ने मेहनत जारी रखी और तीसरे साल उनकी कड़ी मेहनत का नतीजा उन्हें एमबीबीएस की सीट के रूप में मिला।

डॉ. अशोक सेठ की असाधारण सफलता के पीछे भी असफलता की एक कहानी है। असफलता की यह कहानी सीख देती है कि असफलता एक चुनौती है और जो लोग इस चुनौती को स्वीकार नहीं करते, वे हार जाते हैं और जो लोग असफलता की चुनौती को स्वीकार कर संघर्ष जारी रखते हैं, उन्हीं अपनी मेहनत, क़ाबिलीयत

के दम पर सफलता ज़रूर मिलती है। यह कहानी यह भी साबित करती है कि कोशिश करना छोड़ देने से हार हो जाती है और ईमानदारी, निष्ठा, मेहनत और लगन के साथ कोशिश करने वालों की कभी हार नहीं होती।

3. शरीर की चीरफाड़ वाले सब्जेक्ट ने जोड़ा कामयाबी की राह से

अशोक को एमबीबीएस की सीट क्या मिली, सारी मायूसी और निराशा चुटकियों में छूमंतर हो गयी। तीन साल तक साथ रही वेदना अचानक ओझल हो गयी। अब हर तरफ़ ख़ुशी थी, नये सपने थे। नयी उमंगें थी, नया जोश था। लेकिन जैसा कि कई बार होता है, आदमी जोश में होश खो बैठता है। एक तरफ़ नयी-नवेली जवानी ऊपर से मेडिकल कॉलेज में बने नये मनचले दोस्तों के साथ की संगत में अशोक लक्ष्य से भटक गये। उनका मन डॉक्टरी की पढ़ाई से हटकर मौज़-मस्ती वाले कामों में लग गया। इसका नतीजा यह रहा कि मेडिकल कॉलेज में पढ़ाई के पहले साल में जितने भी इंटरनल एग्जाम हुए, उन सब में अशोक फेल हो गये। कॉलेज में सभी शिक्षकों और प्रोफ़ेसरों को लगा कि अशोक पढ़ाई के प्रति गंभीर नहीं हैं। एक होनहार और अच्छे विद्यार्थी की छवि नहीं बना पाये थे अशोक। एग्जाम में फेल होना भी चेतावनी की घंटी थी। ऐसा भी नहीं था कि अशोक की बुद्धि तेज़ नहीं थी, वे मेहनत नहीं कर सकते थे। लेकिन वे रास्ता भटक गये थे। बड़ी बात यह हुई कि सब कुछ बिगड़ जाने से पहले ही अशोक ने ख़ुद को संभाल लिया। जब कॉलेज में पहला प्रोफ़ेशनल एग्जाम हुआ, तब अशोक ने अपने नंबरों से सभी को चौंका दिया। एनाटोमी में उनको सबसे ज़्यादा नंबर मिले थे। क्लासरूम के बाहर बोर्ड पर जो अंकतालिका लगायी गयी थी, उसमें अशोक का नाम सबसे ऊपर था। दोस्तों ने जब जाकर अशोक को बताया कि उनका नाम टॉप पर है, तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ। अशोक को लगा कि दोस्त उनके साथ कोई मज़ाक़ या मसखरापन कर रहे हैं, जो कि दोस्तों के बीच आम बात थी। अशोक को यक़ीन था कि वे 'टॉप' पर आ ही नहीं सकते। अशोक को क्या कॉलेज में किसी के लिए भी यह यक़ीन करना मुश्किल था कि वे किसी भी सब्जेक्ट में टॉप मार्क्स ला सकते हैं। अशोक के लिए एग्जाम में पास हो जाना ही बड़ी बात मानी जाती थी। यही वजह थी कि अशोक ने अपने दोस्तों की बातों को हल्के में लिया और मार्क्स देखने गये ही नहीं। शाम को यूँ ही टहलते-टहलते वे जब क्लासरूम की तरफ़ गये, तब उन्होंने बोर्ड पर लगी लिस्ट को देखा। वाकई उनका नाम सबसे ऊपर था। उनकी हैरानी और ख़ुशी - दोनों को कोई ठिकाना नहीं रहा। इसके बाद अगले दिन वे एनाटोमी डिपार्टमेंट के प्रोफ़ेसर से मिलने गये। उन दिनों यह नियम था कि जो कोई जिस सब्जेक्ट में टॉप करता था, उसे अगले दिन जाकर संबंधित डिपार्टमेंट के हेड और

प्रोफ़ेसर से मिलना होता था। यही औपचारिकता निभाने के मक़सद से अशोक एनाटोमी डिपार्टमेंट में हेड से मिलने पहुँचे। अशोक को लग रहा था कि हेड प्रोफ़ेसर उन्हें शाबाशी देंगे और उनकी तारीफ़ करेंगे। अशोक जब एनाटोमी के प्रोफ़ेसर के कमरे में पहुँचे, तब वे अपनी कुर्सी पर बैठे हुए थे। अशोक उनके पास गये और कहा - मैं अशोक सेठ हूँ और मैंने एनाटोमी में टॉप किया। यह बात सुनने के बाद कुछ पल के लिए प्रोफ़ेसर शांत रहे। कुछ पल की चुप्पी के बाद प्रोफ़ेसर ने गंभीर स्वर में पूछा - डॉक्टर साहब! यह हुआ कैसे? यह सवाल सुनकर अशोक चौंक गये। कुछ देर तक हक्काबक्का रहने के बाद जब अशोक ने ख़ुद को संभाला, तब उन्होंने जवाब दिया - मैं आपसे यही जानने आया हूँ कि यह हुआ कैसे? इस सवाल का जवाब न प्रोफ़ेसर के पास था, न ख़ुद अशोक के पास। लेकिन यह हक़ीक़त थी कि अशोक को एनाटोमी में अव्वल नंबर मिले थे और इसी वजह से वे गोल्ड मैडल के भी हक़दार बने।

बड़ी बात यह रही कि इस गोल्ड मैडल ने अशोक की आँखें खोल दीं और इससे उन्हें उनका लक्ष्य फिर साफ़ दिखायी देने लगा। अशोक को एहसास हुआ कि अगर दूसरी परीक्षाओं में वे अव्वल नहीं आये, तो सभी यह मानेंगे कि कोई चमत्कार हुआ था, जिसकी वजह से अशोक को एनाटोमी में गोल्ड मैडल मिल गया। अशोक ने फ़ैसला कर लिया था कि वे साबित करेंगे कि किसी चमत्कार की वजह से नहीं, बल्कि अपनी क़ाबिलीयत और अपनी कुशाग्र बुद्धि की वजह से उन्हें एनाटोमी में अव्वल नंबर मिले थे। इसके बाद उन्होंने अपना सारा ध्यान परीक्षाओं पर लगा दिया। नतीजा यह रहा कि दूसरे सभी सब्जेक्ट के एग्जाम में भी अशोक को शानदार नंबर मिले। एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान उन्हें सिर्फ़ एक नहीं, बल्कि चार गोल्ड मैडल मिले। अशोक कहते हैं, "एनाटोमी में गोल्ड मैडल क्या मिला, मेरी ज़िंदगी बदल गयी। मुझे लगा कि अगर अगले एग्जाम में मैंने टॉप नहीं किया, तो कॉलेज में सभी लोग मेरा मज़ाक उड़ायेंगे और अगर मैं फिर से नंबर वन बन गया, तो सभी मेरी रेस्पेक्ट करेंगे। मैंने ख़ूब मेहनत की और सभी की रेस्पेक्ट हासिल की।" अशोक ने यह भी कहा, "हर इंसान की अपनी बुद्धि होती है, अपनी अलग ताक़त होती है, क्वालिटीज़ भी हर इंसान की अपनी अलग ही होती हैं। ये सभी इंसान के अंदर होती हैं, जब इंसान अपनी क्वालिटीज़ को बाहर निकाल लाता है, तब वह अच्छा काम करता है। अगर इंसान का इरादा पक्का है, उसे अपने काम के प्रति निष्ठा है और वह पूरे फोकस के साथ मेहनत कर रहा है, तब उसे कामयाबी ज़रूर मिलेगी।"

अलीगढ़ मेडिकल कॉलेज में अशोक के अनुभव ये भी सीख देते हैं कि अगर इंसान को समय रहते अपनी ग़लतियों का एहसास हो और वह भूल-सुधार कर

ले, तो ज़िंदगी फिर से सँवर जाती है। इतना ही नहीं, ज़िंदगी किसी न किसी रूप में हर इंसान को चेतावनियाँ देती रहती है और अगर इंसान इन चेतावनियों को नज़रअंदाज़ करता है, तो उसे ज़िंदगी में भारी मूल चुकाना पड़ता है।

4. टूटे दिल से सीखना शुरू किया था दिल की बीमारियाँ का इलाज

पिता की यह भी इच्छा थी कि अशोक इंग्लैंड जाकर डॉक्टरी की उच्च-स्तरीय पढ़ाई करें। अलीगढ़ मेडिकल कॉलेज से एमबीबीएस की डिग्री मिलने के बाद पिता ने अशोक को इंग्लैंड भिजवा दिया। उन दिनों चिकित्सा के क्षेत्र में सबसे बड़े प्रयोग इंग्लैंड में ही हो रहे थे। अलग-अलग बीमारियों के इलाज के लिए सबसे सुरक्षित और कारगर चिकित्सा-तकनीकों का भी ईजाद वहीं किया जा रहा था। लाइलाज समझी जाने वाली बीमारियों का इलाज भी ढूँढा जा रहा था। दुनिया के सबसे बड़े और मशहूर डॉक्टर और अस्पताल भी उन दिनों इंग्लैंड में ही थे। लेकिन इंग्लैंड के लोगों की भारत के लोगों के प्रति मानसिकता नहीं बदली थी। अशोक ने बताया, "1978 में मैं जब इंग्लैंड पहुँचा, तब हालत ख़राब थी। इंग्लैंड के लोग तब भी भारत के लोगों को अपने किसी ग़ुलाम देश का नागरिक ही मानते थे। इंसान के शरीर के रंग को देखकर भेदभाव किया करते थे।" अंग्रेज़ों को यह भी गुरूर था कि उनके पास मौजूद तकनीकें किसी और के पास नहीं हैं। सारे देशों के लोग उनकी ईजाद की हुई तकनीकों का इस्तेमाल करते हैं। अंग्रेज़ ये भी खुले-आम कहा करते थे कि दूसरे देश उनकी तरह तकनीकों का ईजाद भी नहीं कर सकते हैं, क्योंकि उनके पास जो ताक़त है, वह दूसरों के पास नहीं है। अंग्रेज़ों के रवैये और भेदभाव वाली नीति से अशोक को बहुत बुरा लगा। भारत के लोगों के प्रति अंग्रेज़ों की सोच ने उनके मन को बहुत ठेंस पहुँचायी। उन्होंने मन ही मन संकल्प ले लिया कि वे यह साबित कर दिखाएँगे कि भारतीय भी दिमाग़ी ताक़त, प्रतिभा और कौशल के मामले में किसी से पीछे नहीं हैं।

इंग्लैंड पहुँचने के बाद अशोक ने पहले जनरल मेडिसिन की पढ़ाई की। इसके बाद उन्होंने गैस्ट्रो-एंट्रोलोजी और कार्डियोलॉजी की पढ़ाई की। अशोक पेट, जिगर, आंत, पाचन-प्रणाली का डॉक्टर बनना चाहते थे। अशोक ने फ़ैसला कर लिया था कि वे गैस्ट्रो-एंट्रोलोजिस्ट बनेंगे। इसके पीछे एक ख़ास वजह भी थी। उन दिनों इंग्लैंड में पेट, जिगर, आँत, पाचन-प्रणाली आदि से जुड़ी अलग-अलग छोटी-बड़ी बीमारियों के इलाज के लिए बहुत ही आसान, प्रभावी और सुरक्षित चिकित्सा-पद्धतियों का ईजाद किया गया था। एंडोस्कोपी, ईआरसीपी जैसी चिकित्सा-पद्धतियाँ उन दिनों बिल्कुल नयी थीं और सिर्फ़ कुछ ही देशों में इन अत्याधुनिक तकनीकों

का इस्तेमाल किया जा रहा था। अशोक को लगा कि वे भी इन अत्याधुनिक चिकित्सा-पद्धतियों को सीखकर पेट, जिगर, आँत, पाचन-प्रणाली आदि से जुड़ी बीमारियों का इलाज करते हुए बड़े और मशहूर गैस्ट्रो-एंट्रोलोजिस्ट बनेंगे। अशोक सुहाने सपने देखने लगे थे। उन्होंने अपने भविष्य की योजनाएँ भी इन्हीं सपनों के आधार पर बनायी थीं। लेकिन नस्ली भेदभाव की वजह से अशोक के ये सपने चकनाचूर हो गये। उन्हें गैस्ट्रो-एंट्रोलोजिस्ट के सुपर-स्पेशलिटी कोर्स में दाख़िला नहीं मिला। उनकी जगह किसी श्वेत-वर्ण के व्यक्ति को दाख़िला दिया गया। इस भेदभाव की वजह से नाइंसाफ़ी का शिकार हुए अशोक का दिल टूट गया। लेकिन कार्डियोलॉजी के एक प्रोफ़ेसर ने अशोक को 'दिल का डॉक्टर' यानी कार्डियोलॉजिस्ट बनने की सलाह दी। अशोक का दिल 'पेट और जिगर का डॉक्टर' बनने में लग गया था, दिल का डॉक्टर बनने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी। अशोक कहते हैं, "उन दिनों दिल की बीमारियों का इलाज वैसा नहीं था, जैसा कि आज है। उन दिनों कार्डियोलॉजिस्ट के पास कुछ नहीं, बल्कि स्टेथस्कोप ही होती थी। कार्डियोलॉजिस्ट को उन दिनों ईसीजी देखने वाला डॉक्टर कहा जाता था।" चूँकि अशोक के पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था, उन्हें कार्डियोलॉजी को ही अपना मुख्य विषय बनाना पड़ा। लेकिन क़िस्मत कहिये या कोई चमत्कार, जब अशोक ने कार्डियोलॉजी में सुपर-स्पेशलाइजेशन कोर्स करना शुरू किया, तभी से दिल की बीमारियों के इलाज में क्रांतिकारी परिवर्तन आने शुरू हुए। जिस यूनिवर्सिटी टीचिंग कॉलेज में अशोक कार्डियोलॉजी की पढ़ाई कर रहे थे, उस कॉलेज में भी एंजियोप्लास्टी शरू हुई। वह दुनिया का दूसरा ऐसा अस्पताल था, जहाँ एंजियोप्लास्टी शुरू की गयी थी। इस तकनीक ने दिल की बीमारियों के इलाज को न सिर्फ़ आसान बनाया, बल्कि बेहद कारगर और सुरक्षित भी बना डाला। अशोक की शायद ख़ुशनसीबी ही थी कि वे 'एंजियोप्लास्टी' सीखने वाले दुनिया के पहले क्रम के डॉक्टरों में एक बन पाये। यानी यह इत्तेफाक़ ही था कि अशोक पेट और जिगर का डॉक्टर न बनकर दिल का डॉक्टर बने। अशोक ने अपने गुरु की सलाह मानकर दिल का डॉक्टर बनने का फ़ैसला लिया था, वरना उनका दिल कहीं और ही लगा हुआ था। टूटे दिल से ही उन्होंने दिल की बीमारियों और उनके इलाज के बारे में सीखना शुरू किया था, लेकिन आगे चलकर उन्होंने कई सारे ख़राब दिलों को ठीक किया और हज़ारों लोगों की जान बचायी। लोगों के ख़राब दिल ठीक करने का सिलसिला अब भी बदस्तूर जारी है।

बड़ी बात यह भी है कि जिन दिनों अशोक ने एंजियोप्लास्टी करना शुरू किया था, उन दिनों इस चिकित्सा-प्रक्रिया के दौरान भी कुछ मरीज़ों के मौत के मामले

सामने आ रहे थे। कोई नहीं जानता था कि एंजियोप्लास्टी का भविष्य क्या होगा। लेकिन आगे चलकर एंजियोप्लास्टी ही दुनिया-भर में दिल की बीमारियों की सबसे कामयाब और प्रभावी तकनीक साबित हुई। अशोक बताते हैं कि दुनिया-भर में दिल की बीमारियों से परेशान मरीज़ों में से तक़रीबन 70 फीसदी मरीज़ों का इलाज एंजियोप्लास्टी से ही किया जा रहा है। और इन दिनों अशोक सेठ की गिनती दुनिया-भर में एंजियोग्राफी और एंजियोप्लास्टी के सबसे बड़े जानकार के रूप में होती है।

5. मरीज़ उन्हें भगवान मानते हैं, लेकिन वे कहते हैं- इलाज मैं नहीं करता, भगवान मुझसे करवाते हैं

अशोक ने एंजियोप्लास्टी करना शुरू क्या किया, वे यह चिकित्सा-पद्धति अपनाकर लोगों के दिल की बीमारियों का इलाज करते ही चले गये। अशोक ने अब तक 50 हज़ार से ज़्यादा एंजियोग्राफी प्रोसीजर किये हैं। वे 25 हज़ार से ज़्यादा एंजियोप्लास्टी कर चुके हैं, जो कि अपने आप में एक रिकॉर्ड है। दिल के किसी भी डॉक्टर ने आजतक अपने जीवन-काल में उतने ज़्यादा एंजियोग्राफी और एंजियोप्लास्टी प्रोसीजर नहीं किये हैं, जितने अशोक सेठ ने किये हैं। लेकिन अशोक इन नंबरों को कोई ख़ास महत्व नहीं देते। वे कहते हैं, "मैंने कभी नंबरों के लिए लोगों का इलाज नहीं किया। मेरे पास इलाज के लिए लोग आते गये और मैं इलाज करता गया।"

महत्वपूर्ण बात यह भी है कि विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र के बहुत बड़े और नामचीन विद्वान होने के बावजूद अशोक की ईश्वर के प्रति अटूट आस्था है। वे कहते हैं, "भगवान का आशीर्वाद मेरे साथ हमेशा रहा है। मैं तो यह मानता हूँ कि भगवान ही मेरे हाथों के ज़रिये लोगों का इलाज करवाते हैं। मेरे अंदर एक विश्वास है कि मैं मरीज़ का इलाज कर सकता हूँ, लेकिन इस विश्वास के पीछे भगवान ही हैं। कई बार ऐसा होता है, जब मुझे लगता है कि मामला बहुत ही ख़राब है, मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि, हे ईश्वर! आप ही इस मरीज़ को बचाना। हर दिन सुबह घर से निकलने से पहले मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करता हूँ कि हे ईश्वर! जिस किसी मरीज़ का इलाज मैं आज करूँ, आप ही उसे बचाना। हर रात को मैं ईश्वर को धन्यवाद भी देता हूँ कि उसने मेरे हाथों के ज़रिये लोगों का इलाज करवाया।"

एक सवाल के जवाब में अशोक सेठ ने कहा, "पिछली शताब्दी में विज्ञान ने काफ़ी प्रगति की है। विज्ञान की चकाचौंध में आध्यात्मिकता पीछे चली गयी।

विज्ञान के असर में कई सारे लोग यह मानने लगे कि अगर वे अध्यात्म की बात करेंगे, तो लोग उन्हें पुराने ख़्यालों वाला कहेंगे और बुद्धिजीवी नहीं मानेंगे। हक़ीक़त तो यह है कि विज्ञान ने इतनी सारी प्रगति के बावजूद इंसान का सेल (कोशाणु) बनने तक में कामयाबी हासिल नहीं की है। लोग यह भूल जाते हैं कि ईश्वर ही सबसे शक्तिशाली है और वह ही यह दुनिया चला रहा है। मैं तो कहता हूँ कि अगर हम विज्ञान और अध्यात्म को साथ लेकर नहीं चलेंगे, तो कुछ और नहीं, बल्कि सत्यानाश होगा।"

ग़ौर देने वाली बात यह भी है कि मरीज़ और उनके रिश्तेदार अशोक सेठ को इस वजह से भी बहुत पसंद करते हैं, क्योंकि वे मृदु-भाषी हैं और किसी भी सूरतोहाल अपना संयम नहीं खोते। अशोक यह बात ज़ोर देकर कहते हैं कि हर डॉक्टर का मक़सद लोगों की सेवा करना होना चाहिए, न कि धन-दौलत कमाना। हर डॉक्टर को चाहिए कि वह ख़ुद को मरीज़ की हालत में लाकर देखे कि मरीज़ की तकलीफ़ क्या है? उनकी मजबूरी क्या है? वह किस विश्वास के साथ डॉक्टर के पास आया है? अगर डॉक्टर मरीज़ की स्थिति को अच्छे से जान जाएँ, तब वे मरीज़ के इलाज पर सही तरीक़े से पूरा ध्यान दे सकते हैं। कई सारे लोग ऐसे भी हैं, जो अशोक को भगवान मानते हैं। कई लोगों का कहना है कि अगर वे इलाज करवाने अशोक के पास नहीं आये होते, तो उनकी मौत हो गयी होती। अशोक कहते हैं, "जब कोई मुझे भगवान कहता है, तो बहुत ही अजीब लगता है। लोगों को ऐसा नहीं कहना चाहिए। मैं भी दूसरे लोगों की तरह ही एक इंसान हूँ। भगवान ने मुझे डॉक्टर बनाकर लोगों की सेवा करने का मौक़ा दिया है।"

ईश्वर के चमत्कारों में विश्वास रखने वाले अशोक अपनी बात मनवाने के मक़सद से अपनी ही ज़िंदगी की एक घटना सुनाते हैं। अशोक के मुताबिक़, साल 2002 में अचानक उनके एक हाथ में दर्द होने लगा था। दर्द इतना ज़्यादा था कि वे उससे कोई भी काम नहीं कर पा रहे थे। एंजियोग्राफी और एंजियोप्लास्टी...सभी रुक गये थे। डॉक्टर ने मरीज़ों को देखना तक बंद कर दिया था। अशोक को भी ऐसा लगने लगा था कि अब उनका हाथ कभी ठीक नहीं हो पायेगा और वे लोगों का इलाज दुबारा कभी भी नहीं कर पायेंगे। उन्होंने भारत में बड़े-बड़े डॉक्टरों को दिखवाया। कुछ डॉक्टरों ने तो यहाँ तक कह दिया कि यह हाथ अब कभी ठीक नहीं हो सकता। कुछ डॉक्टरों ने अशोक को सर्जरी करवाने की सलाह दी। सर्जरी जटिल थी और भारत में डॉक्टर इसे करने से कतरा रहे थे। अशोक ने विदेश जाकर अपने हाथ की सर्जरी करने का मन बनाया। अशोक विदेश जाकर सर्जरी करवाने की तैयारी कर ही रहे थे कि उनके शुभचिंतकों ने उन्हें एक बार अपने आध्यात्मिक

गुरु से मिलने की सलाह दी। यह सलाह मानकर अशोक अपने आध्यात्मिक गुरु से मिलने गये। गुरु को अशोक ने अपनी परेशानी बतायी। अशोक का कहना है कि गुरु ने उनके हाथ पर अपना हाथ फ़ेरा और कहा सब कुछ ठीक हो जाएगा। इसके बाद अशोक दिल्ली लौट आये और फिर वही हुआ, जैसा कि गुरु ने कहा था। अशोक का हाथ पूरी तरह से ठीक हो गया। क़रीब डेढ़ महीने तक अपने हाथ से कुछ न कर पाने के बाद अशोक ने दुबारा से मरीज़ों का इलाज करना शुरू किया।

अशोक ने फोर्टिस एस्कॉर्ट हार्ट इंस्टिट्यूट में हुई एक बेहद ख़ास मुलाक़ात में ऐसी ही एक और घटना सुनायी। अशोक ने बताया कि उनकी माँ की तबीयत अचानक काफ़ी बिगड़ गयी थी। उन्हें अस्पताल में भर्ती करवाया गया था। माँ के इलाज में ख़ुद अशोक ने जी-जान लगा दिया था, लेकिन हालत में कोई सुधार नहीं हुआ। इसके बाद अशोक ने ईश्वर से प्रार्थना की और अशोक के मुताबिक़, ईश्वर ने उनकी प्रार्थना सुन ली थी और उनकी माँ की हालत सुधरी। अशोक का कहना है, "विज्ञान अधूरा है और विज्ञान की महानता भी अस्थाई है। ईश्वर शास्वत है।" डॉ. अशोक सेठ के आध्यात्मिक गुरु पुट्टपर्ती के सत्य साईं बाबा हैं। अशोक ने बताया कि शुरू में तो उन्होंने सत्य साईं बाबा में विश्वास ही नहीं किया था। उनकी पत्नी और ससुरालवाले सत्य साईं बाबा को बहुत मानते थे। लेकिन जब सत्य साईं बाबा के 'चमत्कारों' का असर उन पर भी होने लगा, तब उन्होंने बाबा को अपना आध्यात्मिक गुरु बना लिया।

6. माता-पिता की सेवा के लिए स्वदेश लौटे डॉ. सेठ ने मातृभूमि को समर्पित कर दिया जीवन

इंग्लैंड में दिल की बीमारियों के इलाज की अत्याधुनिक चिकित्सा-पद्धतियाँ सीखने के बाद डॉ. अशोक सेठ वहीं बस जाना चाहते थे। एक मायने में डॉ. अशोक सेठ ने अपना परिवार वहीं बसा भी लिया था। वे पत्नी और बच्चों से साथ इंग्लैंड में ही रहने लगे थे। लेकिन इसी बीच उनकी माता की तबीयत ख़राब होने लगी। जब तबीयत ज़्यादा बिगड़ गयी, तब पिता ने फ़ोन कर डॉ. अशोक सेठ से भारत आ जाने को कहा। डॉ. अशोक सेठ अपने माता-पिता के अकेले लड़के थे। वैसे तो डॉ. अशोक सेठ ने इंग्लैंड में ही बस जाने का मन बना लिया था, लेकिन उन्होंने अपने बूढ़े माता-पिता की सेवा के लिए भारत लौटने का बड़ा फ़ैसला लिया। वे नहीं चाहते थे कि जीवन के अंतिम पड़ाव में वे अपने माता-पिता से दूर रहें। वे जानते थे कि जीवन के इस पड़ाव में माता-पिता को उनकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत है। महत्वपूर्ण समय में माता-पिता की सेवा न कर पाने का दर्द जीवन-भर साथ न रह जाय, इस भय को

हमेशा के लिए दूर करने के मक़सद से डॉ. अशोक सेठ ने विदेश छोड़कर स्वदेश लौटने की ठान ली। जिस समय डॉ. अशोक सेठ ने भारत लौटने का फ़ैसला लिया था, उस समय उनका करियर और उनकी लोकप्रियता चढ़ाव पर थी। उनकी ख्याति और आमदनी भी दिन दोगुनी रात चौगुनी बढ़ रही थी। भारत में उनका भविष्य कैसा होगा-इस बात को लेकर भी असमंजस की स्थिति थी। लेकिन डॉ. अशोक सेठ ने सब कुछ छोड़-छाड़ के माता-पिता की सेवा में जुट जाने का मन बनाया।

जिन दिनों डॉ. अशोक सेठ अपने माता-पिता की सेवा करने के मक़सद से भारत लौटे थे, उन दिनों नरेश त्रेहन नयी दिल्ली में दिल की बीमारियों का इलाज करने के लिए एक बड़ा अस्पताल खोलने की तैयारी में थे। नरेश त्रेहन लखनऊ के किंग जॉर्ज मेडिकल कॉलेज से डॉक्टरी की पढ़ाई करने के बाद अमेरिका चले गये थे। नरेश त्रेहन ने अमेरिका में दिल की बीमारियों के इलाज की श्रेष्ठ तकनीकें सीखी थीं और उन्हें वे भारत लाना चाहते थे। डॉ. अशोक सेठ ने बताया कि उनकी मुलाक़ात नरेश त्रेहान से लन्दन के एअरपोर्ट पर हुई थी और इसी मुलाक़ात के दौरान उन्होंने एस्कॉर्ट्स हार्ट सेंटर की योजना-परियोजना के बारे में जाना था। चूँकि डॉ. अशोक सेठ ने भारत लौटने का फ़ैसला कर लिया था, उन्हें लगा कि नरेश त्रेहन के साथ जुड़कर वे भारत में दिल की बीमारियों के इलाज को सुरक्षित और कारगर बना सकते हैं। इसके बाद डॉ. अशोक सेठ भारत आये और एस्कॉर्ट्स हार्ट इंस्टिट्यूट एंड रिसर्च सेंटर से जुड़ गये। पिछले 29 सालों से वे इसी चिकित्सा-संस्थान से जुड़े हैं। कुछ सालों पहले एक करार के तहत फोर्टिस हेल्थ-केयर लिमिटेड के हाथों एस्कॉर्ट्स हार्ट इंस्टिट्यूट एंड रिसर्च सेंटर का प्रबंधन चला गया।

मौजूदा समय में डॉ. अशोक सेठ फोर्टिस एस्कॉर्ट्स हार्ट इंस्टिट्यूट के चेयरमैन और चीफ कार्डियोलॉजिस्ट हैं। वे फोर्टिस अस्पताल समूह के कार्डियोलॉजी कौंसिल के भी चेयरमैन हैं। वैसे तो भारत में क़रीब तीन दशकों की अपनी डॉक्टरी-सेवा में डॉ. अशोक सेठ ने हज़ारों मरीज़ों का इलाज किया है और 25 हज़ार से ज़्यादा लोगों की एंजियोप्लास्टी की है, लेकिन उनके लिए सबसे कठिन मामला अपने पिताजी का था। डॉ. अशोक सेठ के पिता को दिल की बीमारी के लक्षण दिखायी देने लगे थे। डॉ. अशोक सेठ ने ख़ुद एंजियोग्राफी करने का फ़ैसला किया। पिता को एस्कॉर्ट्स अस्पताल लाया गया। उस समय पिता की उम्र 85 साल की थी। लेकिन उनके चेहरे पर ज़रा-सी भी शिकन नहीं थी। वे ख़ुश थे और उत्साहित भी। डॉ. अशोक सेठ ने जब अपने पिता की एंजियोग्राफी की, तब वे उनके दिल की हालत देखकर हैरान-परेशान हो गये। उनके दिल की ब्लॉकेज बहुत ही ख़राब थी। एक नहीं, बल्कि दो जगह ब्लॉकेज थी।

ब्लॉकेज को न हटाये जाने की स्थिति में दिल का ज़बरदस्त दौरा पड़ सकता था। डॉ. अशोक सेठ को समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाय। एक तरफ़ तो उनका मन यह कह रहा था कि ख़तरा दूर करने के लिए फ़ौरन एंजियोप्लास्टी की जाय, वहीं दूसरी तरफ़ यह ख़्याल भी था कि नहीं अभी नहीं, बाद में एंजियोप्लास्टी की जाय। दुविधा बड़ी थी। पिता की हालत कितनी नाज़ुक थी, यह बात डॉ. अशोक सेठ के सिवाय कोई और नहीं जानता था। संकट की इस घटी में फ़ैसला उन्हें ही लेना था। ऑपरेशन थिएटर के बाहर माँ और बहनें भी खड़ी फ़ैसले का इंतज़ार कर रही थीं। डॉ. अशोक सेठ ने पिता को बताया कि एंजियोप्लास्टी ज़रूरी है। पिता ने फ़ौरन एंजियोप्लास्टी करने की इजाज़त दे दी। डॉ. अशोक सेठ ने इससे पहले कई बार कई मरीज़ों पर एंजियोप्लास्टी की थी। लेकिन इस बार उनके दिल की धड़कनें पिछली हर बार से ज़्यादा तेज़, बल्कि बहुत ज़्यादा तेज़ धड़क रही थीं। वजह भी साफ़ थी। सामने मरीज़ कोई और नहीं, बल्कि पिता थे। पिता ख़ुद डॉक्टर तो थे ही, लेकिन डॉ. अशोक सेठ के लिए वे पिता के साथ-साथ गुरु और देवता भी थे। डॉ. अशोक सेठ ने किसी तरह से अपने मनोभावों को नियंत्रित किया। यह भुलाया कि मरीज़ उनके पिता हैं। संकट की स्थिति में वे गंभीर हुए और अपना सारा ध्यान प्रोसीजर पर लगाया। पूरी एकाग्रता और लगन के साथ उन्होंने एंजियोप्लास्टी शुरू की और सफलतापूर्वक दो स्टंट धमनियों में लगाये और ब्लॉकेज को दूर किया। एंजियोप्लास्टी प्रोसीजर कामयाब रहा। कामयाबी मिलते ही डॉ. अशोक सेठ की एकाग्रता भंग हुई और जैसे ही एकाग्रता भंग हुई, उनके पिता को ब्लीडिंग होने लगे। रक्त के प्रवाह को देखकर डॉ. अशोक सेठ भी काफ़ी घबरा गये, लेकिन फिर ख़ुद को दृढ़ दिया और ब्लीडिंग को रोका। यह एक ऐसा प्रोसीजर था, जिसे डॉ. अशोक सेठ चाह कर भी कभी नहीं भूल सकते। जिस व्यक्ति के जीवन और मूल्यों से प्रेरणा लेकर वे डॉक्टर बने थे, उन्हीं का ऑपरेशन करना डॉ. अशोक सेठ के लिए जीवन की सबसे बड़ी परीक्षा थी, जिसमें वे पास हो गये। डॉ. अशोक सेठ ने बताया कि उनके पिता की उम्र अब 90 पार है और वे आराम से जी रहे हैं। दिल भी उनका अच्छे से धड़क रहा है।

7. स्वदेश आये और हर दिल पर छाये

डॉ. अशोक सेठ का भारत आना सिर्फ़ उनके लिए ही फायदेमंद नहीं रहा, पूरे देश को उनकी स्वदेश वापसी से लाभ मिला। भारत में उन्होंने दिल की बीमारियों के इलाज के लिए अंतर-राष्ट्रीय स्तर का चिकित्सा संस्थान - एस्कॉर्ट्स हार्ट इंस्टिट्यूट शुरू करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आगे चलकर डॉ. अशोक सेठ ने एक और विश्व-स्तरीय चिकित्सा संस्था - मैक्स हार्ट एंड वैस्कुलर इंस्टिट्यूट खोलने में भी

अपना अमूल्य योगदान दिया। दिल की बीमारियों के इलाज के लिए अत्याधुनिक, सबसे सुरक्षित और असरदार चिकित्सा तकनीकों को भारत में लाने का श्रेय भी डॉ. अशोक सेठ को ही जाता है। इंसानी दिल, उसके जुड़ी बीमारियों और इन बीमारियों के इलाज पर डॉ. अशोक सेठ ने काफ़ी शोध और अनुसंधान किया है। उनके शोध-पत्रों को दुनिया की बड़ी-बड़ी पत्रिकाएँ प्रकाशित कर चुकी हैं। डॉ. अशोक सेठ ने भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर में इंसानी दिल की सही देख-रेख के लिए दिशा-निर्देश बनाने में भी महती भूमिका अदा की है। दिल की बीमारियों के इलाज के मानक तय करने में भी उनका योगदान काफ़ी सराहा गया। डॉ. अशोक सेठ ने भारत में कई डॉक्टरों को दिल की बीमारियों के सही इलाज के तौर-तरीक़े सिखाये और समझाये हैं। एंजियोग्राफी और एंजियोप्लास्टी की उत्कृष्ट तकनीकें भी उन्होंने कई डॉक्टरों को सिखायी हैं। सही मायने में वे भारत में दिल के डॉक्टरों के एक ऐसे 'गुरु' हैं, जिन्होंने एक पूरी पीढ़ी के दिल के डॉक्टरों को अपने अनुभव और अध्ययन से बहुत कुछ सिखाया है। उनका व्यक्तित्व इतना ओजस्वी और प्रभावी है कि उनसे प्रेरणा लेकर कई लोग दिल का डॉक्टर बने हैं।

डॉ. अशोक सेठ की सबसे बड़ी कामयाबी यह है कि उन्होंने कई ऐसी चिकित्सा-तकनीकें ईजाद की हैं, जिनका अनुसरण अमेरिका और यूरोप के विकसित देशों में दिल के मरीज़ों के इलाज में किया जाने लगा। डॉ. अशोक सेठ कहते हैं, "मुझे इस बात की बहुत ख़ुशी है कि मैंने इस धारणा को तोड़ा कि भारत जैसे डेवेलोपिंग नेशन अपने से कुछ नया नहीं कर सकते और तकनीक के लिए इंग्लैंड, यूएस जैसे देशों पर ही निर्भर रहते हैं। मैंने उस ट्रेंड को रिवर्स किया, जहाँ हम विदेशी डॉक्टरों से सीखा करते थे, अब भारतीय डॉक्टर विदेशी डॉक्टरों को सिखा रहे हैं।" डॉ. अशोक सेठ ने दिल की बीमारियों के इलाज में भारत को एक अलग और विशिष्ट पहचान दिलायी है। अपनी कामयाबियों से विदेशों में भारतीय डॉक्टरों और वैज्ञानिकों का सम्मान बढ़ाया है। डॉ. अशोक सेठ भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया में चिकित्सा-क्षेत्र की कई सारी संस्थाओं से जुड़े हुए हैं। दुनिया-भर में उन्हें दिल की बीमारियों का बड़ा जानकार माना जाता है। इंसानी दिल से जुड़े जटिल मामलों को सुलझाने के लिए डॉ. अशोक सेठ से सलाह माँगी जाती है।

चिकित्सा-क्षेत्र में अमूल्य और अतुल्य योगदान के लिए डॉ. अशोक सेठ को कई राष्ट्रीय और अंतर-राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। भारत सरकार उन्हें साल 2003 में 'पद्मश्री' और फिर साल 2015 में 'पद्मभूषण' उपाधि से अलंकृत कर चुकी है। भारत में चिकित्सा-क्षेत्र में योगदान के लिए दिये जाने वाले सबसे बड़े अवार्ड - यानी डॉ. बी.सी. रॉय अवार्ड से भी डॉ. अशोक सेठ को सुशोभित किया

गया है। स्पेन सरकार ने उन्हें 'क्रॉस इन्सिग्निया ऑफिसर आर्डर ऑफ इसाबेला द कैथोलिक' से नवाज़ा। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय, एमिटी विश्वविद्यालय, तीर्थंकर महावीर विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी उन्हें 'डॉक्टर ऑफ साइंस' की मानद उपाधि से पुरस्कृत कर चुके हैं। वे देश-विदेश के कई सारे विश्वविद्यालयों और चिकित्सा-संस्थाओं के परामर्शदाता और अतिथि प्रोफ़ेसर भी हैं। उनको अलग-अलग संस्थाओं से मिले सम्मानों, अवार्डों की सूची बहुत ही लम्बी है। पूरे भारत में चिकित्सा-क्षेत्र में डॉ. अशोक सेठ का नाम सम्मान और गौरव के साथ लिया जाता है।

8. लोगों के दिल को मज़बूत बनाने वाले दिल के इस बड़े डॉक्टर का दिल 'कमज़ोर' है

डॉ. अशोक सेठ से जब यह पूछा गया कि उन्हें इंसानी दिल की सबसे बड़ी ख़ूबी क्या लगती है, तब उन्होंने कहा, "दिल ही इंसान की ख़ूबसूरती को निखारता है। दिल ही इंसानी जिस्म को ख़ूबसूरती देता है। शरीर-भर में ख़ून संचारित रहता है, तो यह दिल की वजह से ही है।"

दिल से जुड़ी एक बात ऐसी भी है, जो दिल के इस बड़े डॉक्टर को भी काफ़ी हैरान करती है। डॉ. अशोक सेठ भी यह बात नहीं समझ पाये हैं कि आख़िर इंसान का दिल ख़राब क्यों हो जाता है। कुछ चीज़ें हैं, जो कि इंसान के दिल पर बुरा असर करती हैं, जैसे तम्बाकू, शराब, ख़राब खान-पान, अनियमित और अनिश्चित जीवन-शैली, तनाव। लेकिन कई लोगों में यह देखा गया है कि वे इन सब बुराइयों से दूर हैं, फिर भी उनका दिल ख़राब हो गया है। जब डॉ. अशोक सेठ से उनके ख़ुद के दिल की ख़ूबियों के बारे में पूछा गया, तब वे बहुत ही भावुक हो गये। उन्होंने कहा, "मेरा दिल कमज़ोर है, बहुत ही नाज़ुक है। मैं इंसान के दुख और उसके दर्द को अच्छी तरह से समझता हूँ। मेरे दिल में दूसरे लोगों के प्रति हमदर्दी है। मेरा दिल कठोर नहीं है, बल्कि कमज़ोर है। कमज़ोर इसलिए, क्योंकि इसे दूसरों के दर्द से भी दर्द होता है।" डॉ. अशोक सेठ अगर किसी के दिल से सबसे ज़्यादा प्रभावित हैं, तो वह है उनकी माँ का दिल। डॉ. अशोक सेठ के मुताबिक़, "माँ ने मेरे लिए बहुत कुछ त्याग किया है। वे मेरी ख़्वाहिशों को पूरा करने के लिए घर-परिवार के ख़र्चों में से बचत करती थीं। वे मुझसे बहुत प्यार करती थीं। उनका सपना था कि मैं सबसे बड़ा डॉक्टर बनूँ। दुनिया-भर में मेरा नाम रोशन हो। यह माँ का आशीर्वाद ही है, मैं कुछ बन पाया। माँ ने भगवान से भी हमेशा मेरे लिए ही माँगा है। माँ के दिल से बड़ा कोई दिल नहीं है।"

डॉ. अशोक सेठ को इस बात का दुख है कि वे उतना ज़्यादा समय अपनी माँ के साथ नहीं बिता पाये, जितना कि बिताना चाहते थे। वे यह कहने से ज़रा भी नहीं हिचकिचाये कि "मैं करियर बनाने में लगा रहा और माँ के साथ ज़्यादा समय नहीं बिता पाया।" हक़ीक़त तो यह है कि आज भी डॉ. अशोक सेठ अपने परिवार को ज़्यादा समय नहीं दे पाते हैं। सुबह से लेकर रात तक उनका समय अस्पताल में दिल के मरीज़ों का इलाज करते हुए ही बीतता है।

9. नयी-नयी जगह जाना, स्कूबा डाइविंग करना और मस्ती में गाना - यही हैं डॉ. सेठ के शौक़

दिल के मरीज़ों का इलाज करने के अलावा डॉ. अशोक सेठ को तीन काम बेहद पसंद हैं। उन्हें अपने परिवारवालों के साथ नयी-नयी जगह जाना और प्रकृति का आनंद लेना पसंद है। डॉ. अशोक सेठ को स्कूबा डाइविंग का भी शौक़ है। समुंदर में पानी के अंदर जाकर, वहाँ की अलौकिक सुंदरता का आनंद लेने से उनके दिल को सुकून मिलता है। गीत-संगीत डॉ. अशोक सेठ के दिल पर राज करते हैं। फ़िल्मी गाने सुनना उनका बहुत पुराना और कभी न मिटने वाला शौक़ है। एक बार तो गीत-संगीत का जादू उनके सिर पर इस कदर सवार हुआ कि उन्होंने गाने की ट्रेनिंग भी ली। इतना ही नहीं, एक कार्यक्रम आयोजित किया और वहाँ शानदार अंदाज़ में गाने गाकर सभी को मंत्र-मुग्ध कर दिया। अपने ज़माने के सुपरस्टार देवानंद की फ़िल्म 'हम दोनों' का गीत...'अभी न जाओ छोड़कर कि दिल अभी भरा नहीं' उनका सबसे पसंदीदा गीत है।

10. मूलतः पंजाबी, पैदाइश बिहार की, स्कूली शिक्षा बंगाल में, डॉक्टरी पढ़ाई उत्तरप्रदेश में और प्रैक्टिस दिल्ली में...यानी तन-मन से पूरे हिन्दुस्तानी

डॉ. अशोक सेठ का जन्म 25 अक्टूबर, 1956 को बिहार के भागलपुर ज़िले के साबौर में हुआ। उनके पिता मूलतः अविभाजित भारत के लाहौर शहर के रहने वाले पंजाबी थे। वे जब लाहौर मेडिकल कॉलेज में पढ़ाई कर रहे थे, तब भारत का विभाजन हुआ। आज़ादी के बाद वे पाकिस्तान छोड़कर भारत आ गये। चूँकि उन दिनों पाकिस्तान में डॉक्टरी की पढ़ाई कर रहे जितने विद्यार्थी विभाजन के बाद भारत आये थे, उन सभी का दाख़िला किसी न किसी भारतीय मेडिकल कॉलेज में किया गया था। डॉ. अशोक सेठ के पिता को भागलपुर मेडिकल कॉलेज में एडमिशन दी गयी। एमबीबीएस की पढ़ाई पूरी होने के बाद डॉ. अशोक सेठ के पिता को बिहार में ही डॉक्टर की सरकारी नौकरी मिल गयी थी। डॉ. अशोक सेठ की प्रारंभिक

स्कूली शिक्षा मुज़्ज़फ्फरपुर के प्रभात तारा स्कूल में हुई। इसके बाद उनका दाख़िला दुर्गापुर के सैंट ज़ेवियर स्कूल और स्टील प्लांट हायर सेकेंडरी स्कूल में हुआ। इसके बाद जब उन्होंने प्री-मेडिकल टेस्ट क्लियर कर लिया, तब उन्हें एमबीबीएस कोर्स के लिए अलीगढ़ के जवाहरलाल नेहरु मेडिकल कॉलेज में दाख़िला मिला। भारत से एमबीबीएस की डिग्री लेने के बाद डॉ. अशोक सेठ उच्च शिक्षा के लिए इंग्लैंड चले गये और वहाँ बर्मिंघम यूनिवर्सिटी से इंटरनल मेडिसिन और कार्डियोलॉजी में सुपर स्पेशलिटी की डिग्रीयाँ लीं। कुछ साल वहाँ प्रैक्टिस करने के बाद डॉ. अशोक सेठ भारत आ गये और साल 1988 से लगातार देश की राजधानी में दिल के मरीज़ों का इलाज कर रहे हैं। यही वजह है कि डॉ. अशोक सेठ बड़े गर्व के साथ कहते हैं, "मैं पक्का हिन्दुस्तानी हूँ।" डॉ. अशोक सेठ अपने माता-पिता के इकलौते लड़के हैं। उनकी दो बहनें हैं, एक बड़ी और एक छोटी।

माँ के कहने पर डॉक्टर बने चंद्रशेखर यादव माँ का इलाज तो नहीं कर पाये, लेकिन हज़ारों लोगों को दिलायी गठिया से मुक्ति

डॉ. चंद्रशेखर यादव एक ऐसी शख़्सियत का नाम है, जिनकी कामयाबी की कहानी दिल में गहराई से उतरने और दिमाग़ पर बहुत ही गहरा असर छोड़ने का माद्दा रखती है। इस कहानी में ग़रीबी के थपेड़े हैं, ईमानदार और नेकनीयत लोगों के सामने पेश आने वाली दिक़्क़तें हैं, माता-पिता की उम्मीदों पर खरा उतरने के लिए की गयी दिन-रात की मेहनत है, सुविधाओं के अभाव में भी मंज़िल हासिल करने वाला साहस है और समाज से जो कुछ भी मिला, उसे समाज को वापस लौटाने की पवित्र भावना है। ग़रीब परिवार में जन्मे चंद्रशेखर ने डॉक्टर बनकर न सिर्फ़ अपनी माँ का सपना पूरा किया, बल्कि अपनी क़ाबिलीयत और मेहनत के बल पर भारत में हड्डियों के सबसे बड़े और मशहूर डॉक्टरों की कड़ी में शीर्ष पर अपनी जगह बनायी। अपने संकल्प को पूरा करने में घर-परिवार की ग़रीबी को कभी भी आड़े आने नहीं दिया और लगन से वह मुक़ाम हासिल किया, जो कि बहुत ही कम लोगों को हासिल होता है। सड़क किनारे बिजली के खम्भे पर लगे बल्ब की रोशनी में पढ़ते हुए इस शख़्स ने न सिर्फ़ ख़ुद के जीवन को रोशन किया, बल्कि बहुत सारे लोगों का प्रभावी इलाज कर उनके जीवन को भी रोशन किया है। इतना ही नहीं, कड़े विरोध की परवाह किये बिना चंद्रशेखर यादव ने चिकित्सा-क्षेत्र से भ्रष्टाचार और अनैतिक पद्धतियों को मिटाने के लिए आंदोलन की शुरुआत की। इस शल्य-चिकित्सक और शिक्षक की कहानी प्रेरणादायक है और सुविधाओं के अभाव

और विपरीत परिस्थितियों से जूझ रहे लोगों में उत्साह और उमंग का संचार करने वाली कहानी है।

कामयाबी की एक बेहद शानदार कहानी के नायक चंद्रशेखर का जन्म आगरा शहर के एक मध्यमवर्गीय यादव परिवार में हुआ। पिता अपने तीन भाइयों के साथ मिलकर दूध का कारोबार किया करते थे। माँ गृहिणी थीं। जब तक पिता अपने तीनों भाइयों के साथ रहते थे, तब तक परिवार की हालत ठीक-ठाक थी। लेकिन संयुक्त परिवार में बँटवारे के बाद चंद्रशेखर के पिता की आर्थिक हालत डगमगा गयी। घर-परिवार की माली हालत इतनी बिगड़ी कि बच्चों का पेट भरने के भी लाले पड़ गये थे। चंद्रशेखर के पिता का स्वभाव सीधा-सादा था, जीवन के मूल्य आदर्शवादी थे। ज़िंदगी में कभी किसी का कोई नुकसान नहीं किया था। किसी का बुरा सोचना भी उनके लिया पाप था। भाइयों से बँटवारे के बाद चंद्रशेखर के पिता ने कई छोटे-मोटे कारोबार किये, लेकिन हर बार उन्हें घाटा ही हुआ। चंद्रशेखर मज़ाकिया अंदाज़ में कहते हैं, "मेरे पिता में कारोबार करने के गुण ही नहीं थे। वे बेहद ईमानदार इंसान थे। न वे दूध में पानी मिलाकर बेचना जानते थे और न ही घी में मिलावट करना। तोलमोल में हेरफेर करना भी उन्हें नहीं आता था। यही वजह थी कि वे किसी भी कारोबार में मुनाफ़ा कमा ही नहीं पाये।" बच्चों का पेट भरने के लिए माँ ने अपने ज़ेवर बेचने शुरू किये। एक दिन नौबत यहाँ तक आ पहुँची कि माँ के सारे ज़ेवर बिक गये और बेचने के लिए घर में कुछ भी नहीं बचा। शहर के कई सारे लोग चंद्रशेखर के पिता को उनकी ईमानदारी और नेकनीयती के लिए बहुत मानते थे और इन्हीं लोगों की मदद से कई दिनों तक घर-परिवार की गुज़र-बसर हुई।

परिवार की आर्थिक स्थिति कमज़ोर होने की वजह से सभी बच्चों को पढ़ने के लिए हिंदी मीडियम सरकारी स्कूल में ही भेजा गया। चंद्रशेखर का दाख़िला रुक्मिणी देवी मॉडल स्कूल में करवाया गया। पढ़ाई-लिखाई में काफ़ी तेज़ होने की वजह से चंद्रशेखर अपनी माँ के लाड़ले थे। उनकी माँ को बचपन से ही गठिया की शिकायत थी। जैसे-जैसे उम्र बढ़ती गयी, वैसे-वैसे गठिया भी बढ़ता गया और उनके जोड़ों का दर्द असहनीय हो गया। उन दिनों गठिया का इलाज भी नहीं था। दर्द से पूरी तरह से मुक्ति दिलाने वाली न ही दवाइयाँ थीं और न ही उन दिनों घुटनों को बदलने के लिए ऑपरेशन किया जाता था। बचपन में माँ अक्सर चंद्रशेखर से कहा करती थीं - बेटा, तुम बड़े होकर ज़रूर डॉक्टर बनना और मेरे जोड़ों के दर्द का इलाज करना। माँ की इस बात का चंद्रशेखर के बाल-मन पर बहुत गहरा असर हुआ था। उन्होंने बचपन में ही ठान लिया था कि वे बड़े होकर डॉक्टर ही बनेंगे।

चंद्रशेखर ने बचपन से ही अपनी माँ के दुख-दर्द को बहुत क़रीब से देखा और महसूस किया था। जोड़ों में भयानक दर्द होने के बावजूद माँ ने बच्चों के लालन-पालन में कोई कमी नहीं आने दी थी। पिता की ईमानदारी और सदाचार का भी बहुत गहरा प्रभाव चंद्रशेखर ने मन-मस्तिष्क पर पड़ा था। बचपन से ही चंद्रशेखर का यह सपना था, वे बड़े होकर डॉक्टर बनेंगे और अपनी माँ को जोड़ों के दर्द से मुक्ति दिलायेंगे। चंद्रशेखर कहते हैं, "बचपन में और कोई सपना ही नहीं था, बस डॉक्टर बनने के सपने के सिवाय। माँ की वजह से ही हम पढ़-लिख पाये थे। उस ज़माने में हमारे जैसे ग़रीब लोगों के घर में छोटी उम्र से ही बच्चों को नौकरी पर लगा दिया जाता था। अगर माँ की ज़िद न होती, तो शायद हमें भी नौकरी पर लगा दिया जाता।"

डॉक्टर बनने की इच्छा चंद्रशेखर में इतनी मज़बूत थी कि उन्होंने रात के समय सड़क के किनारे बिजली के खम्भों पर लगे बल्बों की रोशनी में पढ़ाई की। चंद्रशेखर ने बताया, "मैंने स्ट्रीट लाइट की रोशनी में पढ़ाई और लिखाई की है। सालों तक हमारे घर में न बिजली का पंखा था, न कोई बल्ब। जब बिजली आयी भी, तब भी एक ही बल्ब लगा और उस समय हालत ऐसी थी कि बिजली कब आएगी और कब चली जाएगी, ये पता नहीं होता था।" चंद्रशेखर के मकान के नज़दीक में संदूकें बनाने का एक कारखाना था। इस कारखाने में कटिंग मशीन चलती रहती थी और संदूकें बनाने वाले हथौड़े लेकर मेटल शीट पर कीलें ठोका करते थे। कटिंग मशीन और हथौड़े की मार का शोर इतना ज़्यादा होता कि उस माहौल में किताबों पर ध्यान केन्द्रित कर पढ़ना बहुत ही मुश्किल होता। इसी वजह से वे रात होने का इंतज़ार करते, ताकि वे छज्जे पर जाकर स्ट्रीटलाइट में पढ़ सकें। इसी मेहनत और लगन का यह नतीजा रहा कि उन्हें दसवीं की परीक्षा में शानदार नंबर मिले और इन्हीं नंबरों की वजह से उनका दाख़िला आगरा के मशहूर महाराजा अग्रसेन इंटर कॉलेज में हो गया।

मेडिकल कॉलेज में दाख़िले के लिए होने वाली प्री-मेडिकल की तैयारी के लिए दूसरे कई सारे बच्चे कोचिंग भी जाया करते थे। लेकिन आर्थिक कारणों से चंद्रशेखर कोचिंग नहीं ले पाये। उन्होंने अपनी मेहनत और कुशाग्र बुद्धि से मेडिकल कॉलेज में दाख़िले की योग्यता हासिल कर ली। चंद्रशेखर ने बताया, "मैं कोचिंग सेंटर तो नहीं गया, लेकिन उन दिनों मेरे कई अच्छे दोस्त कोचिंग जाते थे। इन्हीं में से कुछ दोस्त अपनी किताबें मुझसे शेयर भी करते थे। वे किताबें देकर मेरी मदद करते थे और मैं उनके डाउट क्लियर कर उनकी मदद करता था।"

जब चंद्रशेखर को प्री-मेडिकल टेस्ट में अच्छे नंबरों की बदौलत अपने ही शहर आगरा के मेडिकल कॉलेज में एमबीबीएस की सीट मिल गयी, तब घर-परिवार में

त्यौहार जैसा माहौल हो गया। उन दिनों की यादों को साझा करते हुए चंद्रशेखर ने बताया, "मेरे घर में ही नहीं, बल्कि पूरी गली में ख़ुशी का माहौल था। जैसे ही लोगों को पता चला कि उनकी गली का लड़का डॉक्टर बनने जा रहा है, तब सभी बहुत ख़ुश हुए।" चंद्रशेखर ने रूखे गले से हमें यह भी बताया कि उस गली से उनके बाद अब तक कोई भी दूसरा शख़्स डॉक्टर नहीं बन पाया है।

सरोजिनी नायुडू मेडिकल कॉलेज में डॉक्टरी की पढ़ाई करने वाले दिन भी चंद्रशेखर के लिए काफ़ी चुनौती भरे रहे। मेडिकल कॉलेज में दाख़िले से पहले उनकी सारी पढ़ाई-लिखाई हिंदी मीडियम में ही हुई थी। मेडिकल कॉलेज में सब कुछ अंग्रेज़ी में पढ़ाया जाता था। अंग्रेज़ी पर पकड़ मज़बूत करना भी चंद्रशेखर के लिए बड़ी चुनौती थी। मेडिकल कॉलेज में एमबीबीएस के ज़्यादातर विद्यार्थी ऐसे थे, जो रईस और रसूख़दार परिवारों से थे। एक ग़रीब यादव परिवार से होने की वजह से दूसरे विद्यार्थियों से घुलने-मिलने में चंद्रशेखर को कुछ समय लगा। लेकिन बाद में दोस्ती पक्की हो गयी। चंद्रशेखर यह कहने में ज़रा भी संकोच महसूस नहीं करते कि अपने दोस्तों से मिली मदद की वजह से ही वे डॉक्टरी की पढ़ाई बिना बड़ी मुसीबतों के पूरी कर पाये। चूँकि घर-परिवार की माली हालत अभी सुधरी नहीं थी, वे अपने साथियों की तरह हॉस्टल में नहीं रह सकते थे। लेकिन अपने दोस्तों के हॉस्टल रूम का भरपूर इस्तेमाल किया करते थे। ज़्यादातर समय हॉस्टल में ही रहकर वे अपनी पढ़ाई किया करते थे। हॉस्टल के दिनों की यादों को ताज़ा करते हुए चंद्रशेखर ने बताया, "एग्जाम से ठीक तीन महीने पहले मैं तैयारियों में जुट जाता था। जब मैं पढ़ने के लिए चेयर पर बैठ जाया करता था, तब फिर खाने या फिर सोने के लिए ही इस चेयर पर से उठा करता था।" दिलचस्प बात यह भी है कि एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान चंद्रशेखर अपने साथियों के साथ सिलेबस के अलावा अलग-अलग राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक मुद्दों पर भी चर्चा करते। इसके अलावा वे पूँजीवाद, साम्यवाद, समाज में लोगों के बीच बढ़ती आर्थिक असमानता जैसे मुद्दों पर भी अपने साथियों से बहस करते।

चंद्रशेखर के लिए सबसे बड़े दुख की बात यह रही कि वे अपनी माँ का इलाज नहीं कर पाये। जब मेडिकल कॉलेज में उनकी डॉक्टरी की पढ़ाई चल रही थी, तभी उनकी माँ का गठिया रोग लाइलाज हो गया। वे दिल की मरीज़ भी थीं। चन्द्रशेखर की पढ़ाई के दौरान ही उनकी माँ का निधन हो गया। लेकिन आगे चलकर चंद्रशेखर हड्डियों के ही डॉक्टर बने और उन्होंने गठिया से पीड़ित हज़ारों लोगों का इलाज कर उनके जोड़ों के दर्द को हमेशा के लिए दूर भगाया। वे अब भी हर दिन लोगों की ख़राब, टूटी, टेड़ी-मेड़ी हड्डियों को ठीक कर लोगों को नयी ज़िंदगी और नयी

ख़ुशियाँ देने का काम बख़ूबी कर रहे हैं। चंद्रशेखर कहते हैं, "मुझे बड़ी ख़ुशी है कि आगे चलकर मैंने अपनी एम.एस. ऑर्थोपेडिक में ही की और मैं गठिया का इलाज करने वाला डॉक्टर बना।"

चंद्रशेखर इन दिनों अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान यानी एम्स में ऑर्थोपेडिक डिपार्टमेंट में प्रोफ़ेसर हैं। वे एम्स में हर दिन हड्डियों की अलग-अलग बीमारियों, परेशानियों से पीड़ित मरीज़ों का इलाज करते हैं। वे भारत में नी एंड हिप रिप्लेसमेंट के लिए की जाने वाली सर्जरी के सबसे बड़े और कामयाब डॉक्टरों में शीर्ष पर हैं। वे अलग-अलग संस्थाओं में जाकर होनहार और उभरते डॉक्टरों को हड्डियों की बीमारियों और इनके इलाज के बारे में शिक्षा भी दे रहे हैं। वे एक उम्दा शोधार्थी भी हैं। चिकित्सा-शास्त्र और स्वास्थ्य-सेवा से जुड़े कई विषयों पर उनके शोध-पत्र अलग-अलग प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। अपने डॉक्टरी जीवन में चंद्रशेखर ने अब तक कई सारे जटिल ऑपरेशन कर लोगों को नया जीवन दिया है। वे कहते हैं, "एम्स में ज़्यादातर ऐसे पेचीदा मामले ही आते हैं, जिनका इलाज और कहीं मुमकिन नहीं होता। जब बाहर डॉक्टर कुछ नहीं कर पाते, तब वे एम्स को रेफ़ेर कर देते हैं। हमारे यहाँ मरीज़ व्हीलचेयर या फिर कॉट पर आते हैं, लेकिन सर्जरी के बाद एक सामान्य इंसान की तरह बिना किसी की मदद लेते हुए ख़ुद-ब-ख़ुद अपने पैरों के सहारे चल कर जाते हैं।"

अक्सर देखने में आया है कि घुटनों या फिर कूल्हों में दर्द की वजह से लोगों का घर के बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। पाँवों के मुड़ जाने या फिर टेड़ा-मेड़ा हो जाने की वजह से लोग शर्मिन्दगी महसूस करते हैं। कई लोग डिप्रेशन में चले जाते हैं। ऐसे भी कई सारे मरीज़ हैं, जो कि बचपन में ही जोड़ों की बीमारी का शिकार होकर व्हीलचेयर या बिस्तर तक ही सीमित हो जाते हैं। ऐसे कई सारे मरीज़ों का ऑपरेशन कर चंद्रशेखर न केवल उनका दुख-दर्द दूर कर रहे हैं, बल्कि उनके परिवारवालों के जीवन में नयी ख़ुशियाँ बिखेर रहे हैं।

बतौर इंसान और डॉक्टर चंद्रशेखर के जीवन के कई सारे पहलू काफ़ी रोचक और असाधारण हैं। एक डॉक्टर और सर्जन के तौर पर भी उनकी कई सारी उपलब्धियाँ और कामयाबियाँ हैं। उनके डॉक्टरी जीवन की बड़ी और नायाब कामयाबियों में एक है, जम्मू-कश्मीर के लेह जैसे ऊँचाई वाले पर्वतीय स्थान पर लोगों के घुटनों को बदलने के लिए ऑपरेशन करना। इस असाधारण और अपूर्व कार्य के लिए चंद्रशेखर का नाम 'लिम्का बुक ऑफ रिकॉर्ड' में दर्ज़ किया गया है। जम्मू-कश्मीर के लेह में समुद्री तल से 11,000 फीट की ऊँचाई पर घुटना-प्रत्यारोपण करने का कीर्तिमान स्थापित करने के लिए चंद्रशेखर का नाम लिम्का बुक ऑफ रिकॉर्ड में दर्ज़ हुआ।

चन्द्रशेखर से पहले किसी भी भारतीय ने इतनी ऊँचाई और दुर्गम स्थल पर घुटनों का प्रत्यारोपण नहीं किया था। लेह से श्रीनगर क़रीब 425 किलोमीटर और मनाली से क़रीब 450 किलोमीटर दूर है। लेह का मौसम काफ़ी ठंडा होता है। समुद्री तट से काफ़ी ऊपर होने की वजह से यहाँ ऑक्सीजन की भी कमी होती है। लेह में चिकित्सा-सुविधाएँ भी उन्नत नहीं हैं। इसी वजह से लोगों को अपनी बीमारी का इलाज करवाने के लिए बहुत दूर जाना पड़ता है। ऐसी हालत में लेह के समाज-सेवी बौद्ध धर्मगुरु लामा लोब जांग को लगा कि दिल्ली से डॉक्टरों की टीम बुलवाकर लेह के लोगों का इलाज करना ही श्रेष्ठ उपाय है। चंद्रशेखर ने बताया, "लेह में गठिया से पीड़ित लोगों की संख्या बहुत ज़्यादा है। इन लोगों को दिल्ली आकर एम्स में अपने घुटनों और कूल्हों का प्रत्यर्पण कराने में काफ़ी ख़र्च होता है। साल 2012 में लेह में आयी बाढ़ के बाद जब मैं वहाँ गया, तब लामा लोब जांग ने मुझसे पूछा कि क्या लेह में ही लोगों के घुटनों का प्रत्यारोपण नहीं किया जा सकता? मैंने कहा - क्यों नहीं किया जा सकता।" इसके बाद चंद्रशेखर ने गठिया से पीड़ित लोगों की मदद करने के लिए लेह में ही घुटनों और कूल्हों का प्रत्यारोपण करने की ठानी। चंद्रशेखर ने वहाँ के ज़िला अस्पताल में हड्डियों के डॉक्टर और सर्जन से बातचीत कर अस्पताल को अपग्रेड करवाया। जब ज़िला अस्पताल घुटनों और कूल्हों का प्रत्यारोपण करने के योग्य बन गया, तब वहाँ चन्द्रशेखर ने ऑपरेशन शुरू किये। साल 2013 में वे अपने साथियों के साथ ऑपरेशन का सारा सामान लेकर लेह पहुँचे। ऑपरेशन के लिए ज़रूरी सामान का वज़न क़रीब 1000 किलो का था। चंद्रशेखर ने लेह में समुद्री तल से 11 हज़ार फीट की ऊँचाई पर घुटने और कूल्हों का कामयाब प्रत्यारोपण करके भारत के चिकित्सा-शास्त्र और स्वास्थ्य-सेवा के इतिहास में अपना नाम स्वर्णाक्षरों से दर्ज़ करवाया। ग़ौरतलब है कि श्रेष्ठ चिकित्सा सुविधाओं से वंचित लेह जैसे पहाड़ी इलाक़ों में घुटनों और कूल्हों का प्रत्यारोपण जैसा बड़ा ऑपरेशन करना आसान नहीं है। ऑपरेशन करने में डॉक्टरों को कई सारी चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। सबसे बड़ी चुनौती है मौसम की मार। चंद्रशेखर ने बताया कि लेह में कई डॉक्टरों को भी ऑक्सीजन की ज़रूरत पड़ जाती है। लेह जैसे आसामान्य मौसम वाले क्षेत्र में जटिल ऑपरेशन करने के लिए किसी भी डॉक्टर का मानसिक रूप के अलावा शारीरिक रूप से भी काफ़ी मज़बूत होना ज़रूरी होता है। ऐसी स्थिति में चंद्रशेखर ने न सिर्फ़ चुनौती को स्वीकार किया, बल्कि कामयाबी हासिल कर लेह के लोगों की तकलीफ़ों को दूर करने के लिए एक परम्परा की शुरुआत भी की। चंद्रशेखर अपनी टीम के साथ अब तक लेह-लद्दाख में 68 घुटना और कुल्हा प्रत्यारोपण कर चुके हैं। वे आने वाले सालों में भी लेह में अपना यह साहसी काम जारी रखने का संकल्प पहले ही ले चुके हैं।

चंद्रशेखर ने न सिर्फ़ लेह में साहसी काम किया है, बल्कि भारत में कई जगह जाकर विकट परिस्थितियों में ज़रूरतमंद लोगों की मदद कर चुके हैं। जब गुजरात में भूकंप ने हज़ारों लोगों को बुरी तरह से प्रभावित किया था, तब भी चंद्रशेखर ने भुज जाकर लोगों को चिकित्सा-सुविधा मुहैया करवाई थी। उत्तराखंड में जब बाढ़ और भूस्खलन से भारी तबाही हुई, तब भी वे दुर्गम और ख़तरनाक इलाक़ों में गये और लोगों की मदद की। केंद्र सरकार, अलग-अलग राज्य सरकारों, स्वयंसेवी संस्थाओं, मंत्रियों, सांसदों और दूसरे लोगों द्वारा लोकहित में आयोजित किये जाने वाले चिकित्सा-शिविरों में वे बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेते हैं। चंद्रशेखर कहते हैं, "समाज ने मुझे बहुत कुछ दिया है। मैं समाज को वापस देना चाहता हूँ। मेरी सारी पढ़ाई फ्री में हुई। इसके अलावा समाज से मुझे बहुत इज़्ज़त मिली, नाम और सम्मान मिला, इसी वजह से मैं जितना मुमकिन हो सके लोगों की सेवा करना चाहता हूँ। समाज के प्रति अपना क़र्ज़ चुकाना चाहता हूँ।"

अपनी क़ाबिलीयत और ईमानदारी के लिए मशहूर इस डॉक्टर ने यह भी कहा, "मैंने अपने जीवन में रूपये-पैसों को कभी प्राथमिकता नहीं दी। जब भी मैं ग़रीब मरीज़ों को देखता हूँ, तो मुझे अपने बचपन के दिनों की याद आती है। लोगों की पीड़ा में मुझे अपनी पीड़ा दिखायी देती है। इन लोगों की सेवा करने को मैं अपना फ़र्ज़ मानता हूँ।" महत्वपूर्ण बात यह भी है कि बहुत लोग चंद्रशेखर को एम्स और सरकारी सेवाओं से बाहर आने और निजी अस्पताल में काम कर रुपये कमाने की सलाह देते ही रहते हैं। ऐसे प्रस्तावों की बाबत पूछे गये सवालों के जवाब में चंद्रशेखर ने कहा, "कई लोग हैं, जो एम्स छोड़कर चले गये। जब लोगों को लगता हैं कि स्टैग्नैशन आ गया है, तब वे एम्स छोड़कर बाहर चले जाते हैं। मुझे अपने काम में अभी स्टैग्नैशन नहीं दिखायी दे रहा है, जब आएगा तब सोचा जाएगा। और अगर मैं बाहर गया, तब भी दौलत कमाना मेरी प्राथमिकता नहीं होगी, लोगों की सेवा करना ही मेरा धर्म होगा। अभी तो मुझे एम्स में काम करते हुए बहुत आनंद आ रहा है। मैं ऐसा कोई भी काम नहीं करता, जो मुझे पसंद नहीं है और जिसे करने में मुझे आनंद नहीं मिलता हो।"

एम्स में काम करते हुए चंद्रशेखर ने कई ऐसे काम किये हैं, जो कि उनसे पहले भारत में किसी ने नहीं किये थे। एक ऐसा ही काम था मुर्दों के ज़रिये विद्यार्थियों को घुटनों और कूल्हों के प्रत्यारोपण का प्रशिक्षण देना। एम्स में ऑर्थोप्लास्टी सेवाओं को अपग्रेड और स्टैन्डर्डाइज़ करवाने में भी चंद्रशेखर ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। चिकित्सा शास्त्र के जानकारों के मुताबिक़, चंद्रशेखर ने घुटनों और कूल्हों के प्रत्यारोपण में ग़लत तरीक़ों पर अंकुश लगाने के लिए भरसक प्रयास

किये हैं। चंद्रशेखर ने नी एंड हिप रिप्लेसमेंट के नाम पर लोगों को गुमराह करने, उन्हें धोखा देने और चिकित्सा के नाम रुपये ऐंठने वालों के ख़िलाफ़ भी मुहिम शुरू की है। कई सर्जन ज़रूरत न होने पर भी लोगों को ग़लत सलाह देकर उनके घुटनों या फिर कूल्हों का प्रत्यारोपण कर रहे थे। इतना ही नहीं, ग़लत तरीक़े अपनाकर प्रत्यारोपण किया रहा था। चंद्रशेखर की वजह से ही इस तरह की धांधली पर काफ़ी हद तक रोक लगी है।

चिकित्सा-सुविधाओं के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान के लिए चंद्रशेखर को उत्तरप्रदेश के सबसे बड़े नागरिक सम्मान - 'यश भारती पुरस्कार' से भी सम्मानित किया जा चुका है। हड्डियों से जुड़ी बीमारियों और उनके इलाज में असाधारण काम के लिए उन्हें भारत में चिकित्सा-क्षेत्र के सबसे बड़े सम्मान - 'डॉ. बी सी रॉय अवार्ड' से भी सुशोभित किया गया है। वे प्रतिष्ठित लोकनाथ शराफ मेमोरियल अवार्ड से भी सम्मानित किये जा चुके हैं। वे कहते हैं, "अवार्ड मिलने से काम को मान्यता मिलती है और बहुत ख़ुशी भी होती हैं। लेकिन लोग मुझे एक ईमानदार डॉक्टर के रूप में जानते हैं और इसी बात को मैं अपनी सबसे बड़ी कामयाबी मानता हूँ। ऐसे लोग भी मेरा सम्मान करते हैं, जिनसे मेरे वैचारिक और सैद्धांतिक मतभेद हैं। सम्मान मिला, सभी लोगों से प्यार मिला, इसी से मैं बहुत ख़ुशियाँ हूँ।"

वैसे तो चंद्रशेखर के व्यक्तित्व की कई सारी ख़ूबियाँ हैं, लेकिन उनकी एक बड़ी ख़ूबी यह भी है कि वे लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचने के बावजूद ज़मीन से अपना संबंध मज़बूत बनाये हुए हैं। उन में न कामयाबियों का गुरूर है, और न ही धन-दौलत उनके आदर्शों और जीवन-शैली को बदल पायी है। लोगों की मदद करने का उनका जुनून ग़ज़ब का है। अपने संकल्पों को पूरा करने के मामले में वे काफ़ी हठीले दिखायी देते हैं और यही वजह भी है कि लोगों को सलाह देते हुए कहते हैं, "अगर मंज़िल को पाना है, तो अड़ियल होना ज़रूरी है। अगर किसी इंसान का इरादा पक्का है, तो वह अपनी राह से नहीं डगमगाता और मेहनत के दम पर अपनी मंज़िल हासिल कर ही लेता है।"

ग़रीबों के दिल को टूटने से बचाने की कोशिश में जुटे बड़े दिलवाले डॉक्टर का नाम है राकेश यादव

देश और दुनिया में दिल के डॉक्टर तो बहुत हैं, लेकिन इनमें कुछ ही ऐसे हैं, जिनका दिल बहुत बड़ा है और उसमें ग़रीबों के लिए बेशुमार जगह है। राकेश यादव एक ऐसे ही डॉक्टर हैं, जिनका दिल ग़रीबों के लिए धड़कता है। वे ग़रीबों के दुख-दर्द को अपना दुख-दर्द मानते हैं। भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में हृदय-रोग विभाग में प्रोफ़ेसर के पद पर कार्यरत राकेश यादव एक बड़े लक्ष्य और संकल्प को लेकर अपनी ज़िंदगी जी रहे हैं। वे अपने जीतेजी दिल की बीमारियों के इलाज को इतना सस्ता बना देना चाहते हैं कि ग़रीबों में सबसे ग़रीब इंसान भी आसानी से अपने ख़राब दिल का इलाज करवा सके। राकेश डॉक्टरी पेशे से बेइंतहा मोहब्बत करते हैं। उनके दिल को यह बात भी बहुत ठेस पहुँचाती है कि डॉक्टरी पेशे का भी व्यावसायीकरण हो गया है। अपने दिलोदिमाग़ को समाज-सेवा के प्रति संकल्पनिष्ट बनाये रखने में उन्हें अपने माता-पिता से मिले अच्छे संस्कार ही सहायक सिद्ध हो रहे हैं। पिछड़ी जाति के एक मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मे राकेश को समाज-सेवा, दया-गुण और परोपकार की भावना अपने पिता से विरासत में मिली। त्याग करने की ताक़त अपनी माँ से मिली। अलग-अलग चरणों में मिले अलग-अलग गुरुओं से डॉक्टरी जीवन के असली मक़सद को जानने-समझने का मौक़ा मिला। अपनी क़ाबिलीयत और अपने अनुभव को ग़रीबों और ज़रूरतमंद लोगों की सेवा में समर्पित कर चुके प्रोफ़ेसर राकेश यादव की कहानी में कई ऐसे पहलू हैं, जो कि बेहद रोचक और रोमांचक है। यह कहानी एक ऐसी कहानी है, जो लोगों को कामयाब बनने के

लिए ज़रूरी कई सारी अच्छी और बड़ी बातें बताती है, इंसानी ज़िंदगी के असली मक़सद को समझती है। राकेश यादव की कहानी से सीखने को बहुत कुछ है।

कामयाबी की एक अनुपम कहानी के नायक राकेश यादव का जन्म उत्तरप्रदेश के फ़ैज़ाबाद शहर में हुआ। उनका परिवार मध्यमवर्गीय था और पिता इंडियन एक्सप्लोसिव्स लिमिटेड में नौकरी किया करते थे। नौकरी की वजह से पिता का अलग-अलग जगह तबादला भी हुआ करता था। माँ काफ़ी पढ़ी-लिखी थीं, लेकिन घर-परिवार और बच्चों की ज़िम्मेदारी संभालने के लिए उन्होंने नौकरी नहीं की। अगर माँ नौकरी करना चाहतीं, तो उन्हें किसी स्कूल या कॉलेज में आसानी से शिक्षिका की नौकरी मिल सकती थी, क्योंकि वे बीएड और एमएड पास थीं। लेकिन माँ को लगा कि नौकरी करने से वे अपने बच्चों की परवरिश ठीक तरह से नहीं कर पायेंगी।

राकेश अपने माता-पिता की पहली संतान थे। राकेश के जन्म के बाद तीन लड़कियाँ हुईं। राकेश के मामा उदय प्रताप सिंह हिंदी के विख्यात कवि, साहित्यकार और राजनेता हैं। उदय प्रताप सिंह समाजवादी पार्टी के संस्थापक 'नेताजी' मुलायम सिंह यादव के 'गुरु' हैं। राकेश के नाना डॉ. हरिहर सिंह चौधरी अपने ज़माने में होमियोपैथी के मशहूर डॉक्टर थे। दूर-दूर से लोग अपनी बीमारियों का इलाज करवाने के लिए उनके पास शिकोहाबाद आया करते थे।

बचपन में पिता की पोस्टिंग बिहार के शहर गया में होने की वजह से राकेश की प्राथमिक स्कूली शिक्षा वहीं हुई। नर्सरी से लेकर सातवीं तक की पढ़ाई राकेश ने गया में ही की। इसके बाद जब पिता का तबादला उत्तरप्रदेश के गोंडा शहर में हुआ, तब सारा परिवार यहीं आ गया। राकेश ने आठवीं से बारहवीं की पढ़ाई गोंडा में की।

राकेश शुरू से ही पढ़ाई-लिखाई में काफ़ी तेज़ थे। जब वे पहली क्लास में थे, तभी उनके माता-पिता को एहसास हो गया था कि उनका लाड़ला बेटा आगे चलकर बड़ा आदमी बनेगा। राकेश हुनरमंद और तेज़ तो थे ही, बचपन से ही उनमें कई सारी ख़ूबियाँ भी समायी हुई थीं। उनकी एक आदत ऐसी है, जो कि बचपन से अब तक जस की तस बरकरार है। ये आदत है बातें करने की। स्कूल के दिनों में भी वे काफ़ी बातूनी थे। अपने सहपाठियों और दोस्तों के साथ बातें करना उन्हें बहुत पसंद था। राकेश ने बताया, "मुझे अब भी याद है, जब मुझे पहली, दूसरी और तीसरी क्लास में रिपोर्ट कार्ड मिलता था, तब टीचर उसमें ये लिखती थीं कि बच्चा पढ़ाई में तेज़ है, लेकिन चंचल बहुत है और बातें बहुत करता है।"

राकेश वाकई चंचल स्वभाव के थे और बच्चों से जुड़ी हर छोटी-बड़ी गतिविधि में उनकी भागीदारी होती थी। इसके बावजूद वे पढ़ाई-लिखाई के लिए समय निकाल

ही लेते थे। हाई स्कूल तक आते-आते उनकी यह आदत बन गयी थी कि हरहाल में हर दिन 4 घंटे पढ़ाई करना। किसी वजह से किसी दिन पढ़ाई के लिए चार घंटे नहीं निकाल पाने की स्थिति में वे अगले दिन पढ़ाई में ज़्यादा समय लगाकर पिछले दिन की भरपाई कर लिया करते थे। ऐसा भी नहीं था कि राकेश को सिर्फ़ पढ़ाई-लिखाई में ही दिलचस्पी थी। खेल-कूद में भी वे किसी से पीछे नहीं थे। क्रिकेट, हॉकी, टेबल टेनिस जैसे कई खेलों के वे माहिर खिलाड़ी थे। दिमाग़ की ताक़त को परखने वाले शतरंज के खेल में भी बेहतरीन चाले चलकर प्रतिद्वंद्वी को चित करने में राकेश को बहुत मज़ा आता था। स्कूल में होने वाली प्रतियोगिताओं में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेना और अपने शानदार प्रदर्शन से पुरस्कार जीतना उनकी आदत बन गयी थी। उनके बोलने का अंदाज़ भी काफ़ी निराला था। अपनी बातों से वे सभी का मन जीत लेते थे। वाद-विवाद प्रतियोगिता में उनकी जीत पक्की मानी जाती थी। जो भी बात कहते, पूरे विश्वास के साथ और दमदार अंदाज़ में कहते।

शुरू से ही राकेश की दिलचस्पी गणित और विज्ञान में काफ़ी रही। अंकों का खेल उन्हें बेहद पसंद था। दूसरे बच्चों के लिए जहाँ गणित सबसे कठिन विषय था, वहीं जोड़-घटाव, गुणा-भाग का काम राकेश को बहुत ही पसंद आता। गणित के सूत्रों से ग़ज़ब का प्रेम था राकेश को और वे छोटी-उम्र में ही गणित के सवालों का हल निकालने में माहिर हो गये थे। विज्ञान की बातें भी उन्हें बहुत लुभाती थीं।

राकेश से जुड़ी एक और बड़ी रोचक बात यह थी कि वे रात के समय पढ़ाई करते थे। घर पर जब सब बत्तियाँ बुझ जातीं और सब सो जाते, तब राकेश अपनी किताबें निकालते और होमवर्क पूरा करते थे। स्कूल से आने के बाद सारा समय खेल-कूदने में ही बीतता, लेकिन रात में पढ़ाई-लिखाई मन लगाकर की जाती। राकेश के मुताबिक़, "जब मैं पढ़ने बैठता था, तब मेरा सारा ध्यान सिर्फ़ और सिर्फ़ पढ़ाई पर ही होता था। रात में पढ़ने की सबसे बड़ी वजह यह थी कि उस समय कोई शोर-शराबा नहीं होता और हर तरफ़ शांति होती थी। और वैसे भी, अगर मैं पढ़ने बैठ जाऊँ और मेरे पास आकर कोई ढ़ोल भी बजाने लगे, तब भी मैं डिस्टर्ब होने वाला नहीं था, मेरा कंसंट्रेशन उतना तगड़ा हुआ करता था।"

एकाग्रचित होकर पढ़ने की इसी ख़ूबी की वजह से राकेश को दसवीं की परीक्षा में स्टेट रैंक हासिल हुई। बिना ट्यूशन लिये पढ़ने के बावजूद पूरे उत्तरप्रदेश में उनका रैंक नौवाँ था। बोर्ड की परीक्षा में शानदार प्रदर्शन से उत्साहित माता-पिता के मन में अपने बेटे को डॉक्टर बनाने की इच्छा प्रबल हो गयी। गणित सबसे पसंदीदा विषय होने के बावजूद राकेश ने अपने माता-पिता के सपने को पूरा करने के मक़सद से डॉक्टर बनने की तैयारी शुरू की। साल 1983 में दसवीं की परीक्षा

पास करने के बाद इंटर में राकेश ने बायोलॉजी को अपना मुख्य विषय बनाया। इंटर की परीक्षा और प्री-मेडिकल टेस्ट में मिले शानदार नंबरों के आधार पर राकेश ने मेडिकल कॉलेज में दाख़िले की योग्यता हासिल कर ली। चूँकि साल 1985 में पिता की पोस्टिंग गोरखपुर में थी, राकेश ने एमबीबीएस की पढ़ाई के लिए बाबा राघवदास गोरखपुर मेडिकल कॉलेज को चुना। एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान भी राकेश ने अपनी प्रतिभा, क़ाबिलीयत और एकाग्रता की अद्भुत शक्ति से सभी को प्रभावित किया। तेज़ दिमाग़, ऊपर से कड़ी मेहनत...इन दोनों के सम्मिश्रण का नतीजा यह रहा कि एमबीबीएस के हर एग्जाम में राकेश अव्वल रहे। दिलचस्प बात यह भी है कि परीक्षाओं में तो राकेश हमेशा अव्वल रहते थे, बावजूद इसके कि वे सारी क्लास में आख़िरी कतार में बैठते थे। एम्स परिसर में हुई एक बेहद ख़ास मुलाक़ात के दौरान राकेश ने एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान की सबसे यादगार घटनाओं को भी हमारे साथ साझा किया।

एक दिन गोरखपुर मेडिकल कॉलेज में एनाटोमी की क्लास चल रही थी। एनाटोमी यानी शरीर-रचना-विज्ञान विभाग के मुखिया डॉक्टरी विद्यार्थियों को बीमारियों के इलाज में शरीर के चीर-फाड़ वाले विषय के बारे में समझा रहे थे। एनाटोमी के प्रोफ़ेसर बहुत ही सख़्त मिज़ाज के इंसान थे, हर कोई उनसे डरता था। पढ़ाते समय अचानक प्रोफ़ेसर की नज़र राकेश पर गयी। राकेश की आँखें बंद थीं और प्रोफ़ेसर को लगा कि राकेश क्लास में सो रहे हैं। प्रोफ़ेसर को ग़ुस्सा आया और उन्होंने राकेश को जमकर फटकार लगायी। ग़ुस्से में लाल-पीला हुए प्रोफ़ेसर ने राकेश को क्लास से बाहर चले जाने का फ़रमान सुनाया। लेकिन राकेश ने कहा कि वे क्लास में सो नहीं रहे थे, बल्कि आँखें बंद कर लेक्चर सुन रहे थे। प्रोफ़ेसर को राकेश की बातों पर यक़ीन नहीं हुआ। अपनी बात साबित करने के लिए राकेश ने प्रोफ़ेसर को वह सब सुनाया, जो कि पिछले दस मिनटों के दौरान प्रोफ़ेसर ने पढ़ाया था। प्रोफ़ेसर को हैरान करने वाली बात तो यह रही कि प्रोफ़ेसर ने जैसा कहा था ठीक वैसे ही, यानी अक्षर-अक्षर और वाक्य-वाक्य बिल्कुल वैसे ही सुनाया था। यह घटना भी साबित करती है कि राकेश की दिमाग़ी ताक़त और स्मरण-शक्ति वाकई ग़ज़ब की है।

मेडिकल कॉलेज के दिनों में भी राकेश सिर्फ़ पढ़ाई-लिखाई में ही नहीं, बल्कि हर काम में आगे रहते थे। खेल का मैदान हो या शतरंज की बिसात, अपना दमखम दिखाने में वे कोई कोर कसर बाक़ी नहीं छोड़ते थे। वाद-विवाद हो या फिर निबंध-लेखन, प्रतियोगिता चाहे कोई भी क्यों न हो, राकेश का पुरस्कार पाना तय था। यही वजह थी कि जब कॉलेज का वार्षिकोत्सव होता था और विजेताओं को

पुरस्कार बाँटे जाते थे, तब राकेश की झोली में इतने पुरस्कार आ जाते थे कि उन्हें अपने हाथों में पकड़ कर रखना भी उनके बस की बात नहीं होती थी। राकेश ने सभी का दिल जीत लिया था।

मेडिकल कॉलेज में एक बार वार्षिकोत्सव के आयोजन में राकेश ने अपनी नेतृत्व-श्रमता और रचनात्मकता/कलात्मकता से सभी को मंत्र-मुग्ध कर दिया। हुआ यूँ था कि एक बार मेडिकल कॉलेज में फंड की कमी पड़ गयी। वार्षिकोत्सव के आयोजन के लिए दी जाने वाले राशि में भी भारी कटौती की गयी। कॉलेज में खेल विभाग के प्रभारी का सिर चकरा गया। उन्हें समझ में ही नहीं आ रहा था कि छोटी रकम में वार्षिकोत्सव का आयोजन कैसे किये जाय। स्पोर्ट्स मास्टर ने अपनी उलझन राकेश को बतायी और राकेश ने फट-से चुनौती स्वीकार कर ली। राकेश ने अपने दिमाग़ की पूरी ताक़त वार्षिकोत्सव के सफल आयोजन में झोंक दी। सूझ-बूझ का परिचय देते हुए राकेश ने अपने साथियों को इक्कट्ठा किया और काम पर लग गये। चूँकि हाथ में रुपये काफ़ी कम थे, कम कीमत वाली वस्तुओं से सारी तैयारी करनी थी। जब कम कीमत वाली वस्तुओं के बारे में सोचना शुरू किया, तब राकेश का दिमाग़ कुल्हड़ों पर जाकर अटका। कुल्हड़ों से राकेश के दिमाग़ की बत्ती जली और उन्हें नया आइडिया मिला। राकेश ने उस साल कुल्हड़ों से ही कॉलेज का सारा डेकोरेशन कर डाला। कुल्हड़ों से कॉलेज के भवनों और स्टेज की शानदार सजावट को देखकर सभी राकेश के मुरीद हो गये। इस घटना से एक और बड़ी बात साबित हो गयी और वह यह थी कि राकेश आपदा प्रबंधन में भी माहिर हैं।

शानदार नंबरों से एमबीबीएस की परीक्षा पास करने के बाद एमडी के कोर्स के लिए राकेश ने आगरा के सरोजिनी नायुडू मेडिकल कॉलेज में दाख़िला लिया। शुरू में तो उनका मन हड्डियों के इलाज में लग गया था, लेकिन माता-पिता की सलाह पर उन्होंने जनरल मेडिसिन को अपना मुख्य विषय बनाया। एमडी की पढ़ाई के दौरान आगरा मेडिकल कॉलेज की एक घटना ने राकेश के दिलोदिमाग़ पर कुछ इस तरह का प्रभाव छोड़ा कि लोगों की सेवा करना और मौत का सम्मान करना उनके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण हिस्सा बन गया। राकेश ने बताया कि आगरा मेडिकल कॉलेज में डीके हज़रा नाम के एक प्रोफ़ेसर हुआ करते थे। प्रोफ़ेसर हज़रा डिपार्टमेंट हेड थे। राकेश को उनके साथ मरीज़ों की जाँच करने के लिए राउंड्स पर जाने का मौक़ा मिलता था। एक बार राउंड्स के दौरान एक मरीज़ की मौत हो गयी। प्रोफ़ेसर को जैसे ही मालूम हुआ कि उस मरीज़ ने दम तोड़ दिया है, तब वे उसके बेड के पास गये। प्रोफ़ेसर ने लाश की खुली आँखें बंद की। हाथ-पाँव में जो पट्टियाँ बंधी

थीं, उन्हें बड़ी सावधानी से खुलवाया। इंट्रावीनस फ्लुइड्स के लिए जो सुई शरीर में लगी थी, उसे निकलवाया। इसके बाद प्रोफ़ेसर ने राकेश से कहा - "जो लोग मौत की इज़्ज़त नहीं कर सकते, वे ज़िंदगी की इज़्ज़त कभी नहीं कर सकते।" प्रोफ़ेसर की यह बात राकेश में मन-मस्तिष्क में गाँठ बाँधकर बैठ गयी।

राकेश के 'दिल का डॉक्टर' बनने का कारण भी माता-पिता ही थे। माता-पिता चाहते थे कि राकेश दिल का डॉक्टर बनें। उन दिनों दिल का डॉक्टर होने का मतलब था समाज में ऊँचा मुकाम होना। वैसे तो हर क़िस्म के डॉक्टर की समाज में क़दर होती थी, लेकिन दिल के डॉक्टरों को बहुत बड़ा माना जाता था। माता-पिता की ख्वाहिश पूरा करने के मक़सद से राकेश ने एम्स में डीएम कोर्स में दाख़िले की तैयारी शुरू की। हर परीक्षा की तरह ही इस बार भी राकेश की तैयारी काफ़ी तगड़ी थी। उन्हें पहली ही कोशिश में देश के सबसे बड़े चिकित्सा-संस्थान यानी भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में कार्डियोलॉजी में डीएम कोर्स में सीट मिल गयी। ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि उन दिनों भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में डीएम कार्डियोलॉजी की दो ही सीटें हुआ करती थीं, लेकिन राकेश के नंबर इतने अच्छे थे कि उन्होंने बाक़ी सारे उम्मीदवारों को काफ़ी पीछे छोड़ दिया। मौखिक परीक्षा में भी राकेश के नंबर सबसे ज़्यादा थे। वाक-कला में निपुण राकेश ने ज्ञान-विज्ञान की अपनी बातों से परीक्षकों का दिल जीत कर दिल का डॉक्टर बनने का अपना रास्ता साफ़ कर लिया।

कार्डियोलॉजी में डीएम की स्पेशलाइज्ड डिग्री लेने के बाद राकेश भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान यानी एम्स में ही फैकल्टी का हिस्सा बन गये। बतौर असिस्टेंट प्रोफ़ेसर उनके शिक्षक जीवन की शुरूआत हुई। एम्स में काम करते हुए राकेश ने कई सारे मरीज़ों का इलाज किया है। पिछले कई सालों से वे हर दिन दिल के मरीज़ों की तकलीफ़ों को दूर करने की हर मुमकिन कोशिश करते आ रहे हैं। अब तक के अपने डॉक्टरी जीवन में उन्होंने अपनी दवाइयों और इलाज के तौर-तरीक़ों से कई लोगों की जान बचायी है। कई जटिल मामलों को सुलझाया है।

एक सवाल के जवाब में राकेश ने कहा, "हर मरीज़ मेरे लिए एक नयी चुनौती लेकर आता है। मैं अपनी ओर से हर मुमकिन कोशिश करता हूँ कि मरीज़ को मेरे इलाज के बाद कोई शिकायत न रहे। मैं अपने आप को पहले मरीज़ के परिजनों की स्थिति में लाकर उनके दुख-दर्द को महसूस करने की कोशिश करता हूँ। मैं लोगों के दुख-दर्द को अच्छी तरह से समझता भी हूँ, और यही वजह है कि मैं हर मरीज़ के इलाज में अपनी पूरी शक्ति लगा देता हूँ। मैं जानता हूँ कि मेरी छोटी-सी लापरवाही किसी पिता से उसका बेटा छीन सकती है, तो किसी बेटे से उसका बाप।

इलाज में थोड़ी-सी देरी भी किसी की जान ले सकती है। मैं बहुत अच्छी तरह से जानता हूँ कि मेरा हर फ़ैसला सीधे जीवन और मौत से जुड़ा होता है। एक ग़लत फ़ैसले से ज़िंदगी मौत में तब्दील हो सकती है।"

राकेश यह बात क़बूल करने में ज़रा-सी भी हिचक नहीं महसूस करते है कि अपने परिचित लोगों का इलाज करना ही उनके लिए सबसे बड़ी चुनौती होती है। वे कहते हैं, "परिचित लोगों से एक अलग क़िस्म का भावनात्मक लगाव होता है। परिचित होने की वजह से उनका मुझपर भरोसा भी काफ़ी ज़्यादा होता है। इलाज ठीक नहीं हुआ, तब परिचित के सामने असहज महसूस करना भी स्वाभाविक होता है। यही वजह है कि परिचित लोगों का इलाज करते वक़्त मेरे दिल की धड़कनें भी तेज़ हो जाती हैं। लेकिन ऐसा भी नहीं है कि मैं अपने को लेकर बहुत ही ज़्यादा फिक्रमंद हो जाता हूँ, हाँ दिल की धड़कन तेज़ ज़रूर हो जाती है।"

परिचित लोगों के इलाज के समय मनोदशा कैसी होती है, इस बात को हमें बताने के लिए राकेश ने एक घटना सुनायी। राकेश के एक बेहद ख़ास दोस्त के उम्रदराज़ पिता को सीने में दर्द की शिकायत हो रही थी। दोस्त के पिता को लगा कि एसिडिटी की वजह से सीने में जलन होने लगी है। एसिडिटी की दवाइयाँ लेने के बाद भी जब दोस्त के पिता की शिकायत दूर नहीं हुई, तब उन्होंने राकेश को फ़ोन लगाया। राकेश ने जैसे ही सीने में दर्द की बात सुनी, उन्होंने अपने दोस्त से उनके पिता को जितना जल्दी हो सके, उतनी जल्दी अस्पताल में उनके पास ले आने को कहा। राकेश जानते थे कि सीने में दर्द का मतलब दिल की कोई गंभीर बीमारी भी हो सकती थी। राकेश कोई रिस्क नहीं लेना चाहते थे। उनका दोस्त जब अपने पिता को लेकर एम्स पहुँचा, तब राकेश ने उनकी ईसीजी करवाई। ईसीजी की रिपोर्ट से साफ़ हो गया था कि दोस्त के पिता को दिल का ज़बरदस्त दौरा पड़ा है। राकेश ने तुरंत दोस्त के पिता को कैथ लैब ले जाने की तैयारी शुरू की। इतने में ही उनके दोस्त के पिता बेहोश होकर वहीं गिर पड़े। राकेश ने तुरंत उन्हें स्ट्रेचर पर लिटाया और कैथ लैब की ओर दौड़े। राकेश के सही समय पर सही फ़ैसले और सही इलाज की वजह से उनके दोस्त के पिता की जान बच गयी। उस घटना की यादें ताज़ा करते हुए राकेश ने बताया कि अगर मेरे दोस्त के पिता को कुछ हो जाता, तो मुझे बहुत ही बुरा लगता। उनके ठीक हो जाने के बाद मेरे दोस्त और उनके पिता - दोनों ने मुझसे से कहा था कि उन्होंने मुझे इतना घबराया हुआ कभी भी नहीं देखा था। वैसे तो मैं कभी भी न घबराता हूँ, न फिक्रमंद होता हूँ, लेकिन तब बात परिचित लोगों के इलाज की आती है, तो

मामला कुछ अलग ज़रूर हो जाता है और मेरे दिल की धड़कनें सामान्य से कुछ ज़्यादा तेज़ धड़कती हैं।

हज़ारों ख़राब दिल को ठीक कर चुके राकेश ने दिल के बारे में एक बहुत ही रोचक बात बतायी। वे कहते हैं, "दिल बहुत ही अजीब चीज़ है। यह कैसे काम करता है, यह तो हम जान पाये हैं, लेकिन यह बीमार कैसे हो जाता है, इसकी सही वजह अब भी पता नहीं चल पायी है। दिल के ख़राब होने के कारणों का पता लगाने के लिए दुनिया-भर में काफ़ी काम हो रहा है और मुझे उम्मीद है कि कामयाबी भी जल्द ही मिल जाएगी। लेकिन अभी कोई भी ये दावे के साथ नहीं कह सकता कि दिल के ख़राब के होने के सही कारण क्या हैं। मैंने ख़ुद ऐसे कई लोग देखे हैं, जो कि न सिगरेट पीते हैं, न तम्बाकू का सेवन करते हैं, ये लोग हर दिन कसरत करते हैं, माँस नहीं खाते, इनका खान-पान और रहन-सहन भी बिल्कुल ठीक है, लेकिन ऐसे लोगों को भी दिल की बीमारी हो रही है। कई लोगों को तो छोटी-सी उम्र में ही दिल की बीमारी हो रही है। ये कहावत वाकई सही है - दिल को कोई समझ नहीं पाया है। वैसे तो अक्सर यह कहावत लड़कियों के दिल के संदर्भ में कही जाती है, लेकिन मर्दों के दिल को समझना भी मुश्किल काम है।"

दिल और दिमाग़ के रिश्ते की बाबत पूछे गये सवालों के जवाब में इस हृदय-रोग विशेषज्ञ ने कहा, "दिल की सारी धड़कनें दिमाग़ से ही संचालित होती हैं। लेकिन दिल की बड़ी बात यह है कि वह अगर 30 सेकंड के लिए भी धड़कना बंद कर दे, तो इंसान का दिमाग़ भी काम करना बंद कर देता है और इंसान मर जाता है। शरीर के दूसरे अंग आराम कर सकते हैं, लेकिन दिल कभी नहीं रुकता। किसी भी इंसान के ज़िंदा रहने के लिए दिल का धड़कना ज़रूरी होता है। दिल और दिमाग़ के कनेक्शन की बात हो और मुझसे यह पूछा जाय कि दिल की सुननी चाहिए या दिमाग़ की माननी चाहिए, तो मैं वही पुरानी कहावत कहूँगा - दिल की सुनोगे तो ख़ुश रहोगे और दिमाग़ की सुनोगे तो तरक्की करोगे।" राकेश ने आगे कहा, "मैं तो अपने दिल की ही सुनता हूँ। मुझे जो अच्छा लगता है, वही करता हूँ। अगर मेरे आसपास के लोग मुझसे ख़ुश हैं, तो मैं ख़ुश हूँ। मेरी हमेशा यही कोशिश रहती है कि जो भी मेरे सामने बैठा है, वह ख़ुश रहे, मुस्कुराता रहे। लोग जब मेरे काम से ख़ुश होते हैं, तब मेरे दिल को सबसे ज़्यादा ख़ुशी मिलती है।"

राकेश को दूसरे लोगों का दुख-दर्द देखकर बहुत परेशानी होती है। उनसे दूसरों का दर्द सहा नहीं जाता। वे लोगों का दर्द दूर करने के लिए अपनी ओर से हर मुमकिन कोशिश भी करते हैं। वे कहते हैं, "किसी भी इंसान को मैं अपने सामने

दर्द झेलते हुए नहीं देख सकता। वैसे तो मैं हर आदमी का दर्द दूर नहीं कर सकता, लेकिन मेरा दिल चाहता है कि मैं ज़्यादा से ज़्यादा लोगों का दुख दूर करूँ।"

राकेश का दिल एक और बात को लेकर बहुत दुखी है। राकेश को इस बात की पीड़ा है कि भारत में आज भी दिल की बीमारियों का इलाज काफ़ी महँगा है। आम आदमी के लिए दिल की बीमारी का इलाज करवाना आसान नहीं है। बीमार दिल के इलाज में लाखों रुपये ख़र्च हो जाते हैं। इलाज करवाने की स्थिति में न होने की वजह से कई लोगों का दिल लगातार कमज़ोर होता जाता है और एक दिल इतना ख़राब हो जाता है कि वह धड़कना ही बंद कर देता है। देश में ग़रीबी की वजह से कई सारे लोग अपने ख़राब दिल की बीमारी का इलाज ही नहीं करवा पा रहे हैं।

राकेश की यह कोशिश है कि भारत में दिल की बीमारियों का इलाज सस्ता हो, ताकि आम आदमी और ग़रीब इंसान भी इलाज पर होने वाला ख़र्च का भार बर्दाश्त कर सके। राकेश ने इस बात पर ख़ुशी ज़ाहिर की कि भारत में केंद्र सरकार ने दिल की बीमारी के इलाज में होने वाले ख़र्च को कम करवाने की दिशा में बड़े क़दम उठाने शुरू कर दिये हैं। दिल की बीमारी में बंद रक्त धमनियों को खोलने के लिए उपयोग में लाये जाने वाले स्टेंट की कीमत को कम करने की पहल इसी दिशा में उठाया गया एक बड़ा क़दम है। सरकार ने स्टेंट के अलावा दिल की बीमारियों के इलाज से जुड़े अन्य उपकरणों की कीमत कम करने की कोशिश शुरू कर लोगों में एक नयी उम्मीद जगायी है। राकेश कहते हैं, "मेरे जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य यही है कि भारत में दिल की बीमारियों का इलाज इतना सस्ता हो जाय कि ग़रीब से ग़रीब इंसान भी अपने ख़राब दिल का इलाज आसानी से करा पाये। दिल की बीमारी के इलाज में लोगों के दिल का टूटना बंद हो - यही मेरा सपना है।"

भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में डॉक्टरी विद्यार्थियों को दिल की बीमारियों और उनके इलाज के बारे में बता/सिखा रहे दिल के इस बड़े जानकार ने बताया, "भारत में दिल के मरीज़ों की संख्या लगातार बढ़ रही है। हर तीन में से एक भारतीय उच्च रक्तचाप का शिकार है। आठ में एक से भारतीय मधुमेह से परेशान है। दिल की बीमारियों के मामले में भारत में स्थिति बहुत ही ख़तरनाक है और एक ज्वालामुखी का रूप ले चुकी है।"

इस मशहूर डॉक्टर का दिल इस बात को लेकर भी दुखी होता है कि कुछ लोगों ने डॉक्टरी पेशे को कारोबार बना लिया है। राकेश कहते हैं, "पता नहीं क्यों कुछ लोगों के इस प्रोफ़ेशन को बिज़नेस बना लिया है। इन लोगों को इस प्रोफ़ेशन में

व्यापार दिखता है, न कि प्यार। यह एक ऐसा प्रोफ़ेशन है, जहाँ डॉक्टर को लोगों की मदद करने, उनके दुख-दर्द को दूर करने का मौक़ा मिलता है। लेकिन मेरी समझ में यह नहीं आता कि क्यों कुछ लोग इस मौक़े का ग़लत फायदा उठाने की कोशिश में लगे रहते हैं। मैं हर डॉक्टर से कहता हूँ - इस पेशे को व्यापार मत बनाओ, इससे प्यार करो और लोगों का इलाज करते हुए उनका प्यार पाओ।" अपनी इसी बात को हर डॉक्टर के सामने बलपूर्वक रखने के मक़सद से राकेश अपने मामा उदय प्रताप सिंह का एक शे'र सुनाते हैं-

ख़्वाहिशों का सिलसिला बेशक बढ़ा ले जाएगा, सोचता हूँ इंसान
दुनिया से क्या ले जाएगा
तुम किसी की खामियों का क्यों लगाते हो हिसाब, वह अपनी
करनी का हिसाब ख़ुद-ब-ख़ुद ले जाएगा

चिकित्सा-क्षेत्र में चिकित्सक, शिक्षक, वैज्ञानिक और शोधकर्ता के रूप में राकेश की सेवाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें कई प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है। देश के सबसे बड़े राज्य उत्तरप्रदेश का सबसे बड़ा नागरिक सम्मान यानी 'यशभारती' पुरस्कार भी उन्हें मिल चुका है। चिकित्सा-क्षेत्र में अमूल्य योगदान के लिए दिये जाने वाले सबसे बड़े पुरस्कार - डॉ. बी.सी. रॉय अवार्ड से भी राकेश को नवाज़ा जा चुका है। दिल की बीमारियों और उनके इलाज को लेकर किये गये शोध के आधार पर राकेश द्वारा लिखे गये शोध-पत्र और लेख देश और दुनिया की लब्ध-प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं। दिल की बीमारियों से बचने के उपाय लोगों को अलग-अलग प्रचार-प्रसार माध्यमों से बताना उनकी ज़िंदगी का अहम हिस्सा बन गया है।

राकेश अपनी नायाब कामयाबियों का सारा श्रेय अपने माता-पिता और गुरुओं को देते हैं। वे कहते हैं, "माता-पिता ने शुरू से ही मुझे अच्छे संस्कार दिये। घर में शुरू से ही ऐसा माहौल मिला, जिससे ये प्रेरणा मिलती थी कि ज़िंदगी में कुछ बड़ा करना है, कुछ अच्छा करना है। मेरे पिता ने मुझे एक बहुत बड़ी बात सिखायी थी। वे मुझसे कहते थे - बड़ा इंसान ज़रूर बनो, लेकिन बड़ा इंसान बनने से पहले एक अच्छा इंसान बनो। मुझे ख़ुशी है कि मेरे माता-पिता के दिये संस्कारों की वजह से मैं एक अच्छा इंसान बन पाया। मैं अपने आप को इस वजह से भी बहुत ख़ुशक़िस्मत मानता हूँ, क्योंकि मुझे हर समय अच्छे गुरु मिले। आज मैं जो कुछ भी हूँ, अपने बड़ों के आशीर्वाद की वजह से ही हूँ।"

ग़रीबों और ज़रूरतमंद लोगों की मदद करने का मज़बूत जज़्बा भी राकेश को अपने पिता से विरासत में मिला है। राकेश ने अपने बचपन से ही देखा है कि उनके पिता बड़े ही परोपकारी और दयालु हैं। जो कोई मदद की गुहार लगाते हुए उनके पास आता था, वह कभी निराश नहीं लौटता था। राकेश कहते हैं, "मैंने अब तक कई सारे लोगों के दिल का परीक्षण किया है, लेकिन मैंने अपने पिता जैसा मज़बूत और बड़ा दिल किसी का नहीं देखा। एक बार मेरे पिता की नौकरी चली गयी थी, तब उन्होंने परिवार के किसी भी सदस्य को इस बात का आभास भी नहीं होने दिया कि वे बड़ी मुश्किल से घर-परिवार चला रहे हैं। हमारे चाचा की भी ज़िम्मेदारी पिता पर ही थी, लेकिन उन्होंने हँसते हुए सभी की ज़रूरतों को पूरा किया।" माँ को राकेश त्याग की मूर्ति बताते हैं और कहते हैं कि माँ जैसा अच्छा और प्यारा दिल दुनिया में किसी का नहीं होता।

राकेश से जुड़ी एक और बड़ी दिलचस्प बात यह है कि वे अपने साहित्यकार और राजनेता मामा उदय प्रताप सिंह से भी बहुत प्रभावित हैं। उदय प्रताप सिंह की गिनती आधुनिक भारत में हिंदी के श्रेष्ठ और लोकप्रिय साहित्यकारों में होती हैं। उदय प्रताप सिंह पिछले कई सालों से अपने काव्य-पाठ से कवि सम्मेलनों की शान बढ़ाते आ रहे हैं। अपने मामा के प्रभाव की वजह से राकेश ने भी पाँच साल की छोटी से उम्र से ही कवि सम्मेलनों में जाना शुरू कर दिया था। रात-रात भर वे देश के बड़े-बड़े कवियों को सुना करते थे। देश के मूर्धन्य कवियों की रचनाओं का असर राकेश के बाल-मन पर कुछ इस तरह से पड़ा कि उन्होंने भी कविताएँ लिखनी शुरू कर दी थीं, लेकिन पढ़ाई-लिखाई की वजह से उनका साहित्य-सृजन रुक गया। अब भी राकेश को जब कभी मौक़ा मिलता है, वे ख़ुद को साहित्य से जोड़ लेते हैं। उन्हें फ़िल्मी गीत-संगीत भी बहुत पसंद है।

दिल के झरोखे में तुझको बिठाकर

यादों को तेरी मैं दुल्हन बनाकर

रखूँगा मैं दिल के पास, मत हो मेरी जाँ उदास

'ब्रह्मचारी' फ़िल्म का यह गीत उनका सबसे पसंदीदा गीत है। इसी गीत के ज़रिये वे लोगों को अपने दिल को चुस्त-दुरुस्त और स्वस्थ रखने के उपाय भी समझाते हैं। राकेश कहते हैं, "अगर पाँच बातों को दिल के झरोखे में बिठाकर रखा जाय और उसी तरह से काम किया जाय, तब ही दिल को बीमारियों से बचाया जा सकता है। पहला ज़रूरी काम है - हर दिन नियमित रूप से व्यायाम करना।

दूसरा - खान-पान में अहतियात बरतना और सेहतमंद भोजन करना। घर के बाहर का बना खाना खाने से बचना। तीसरा - नमक का कम से कम इस्तेमाल करना। चौथा - तम्बाकू और शराब का सेवन न करना और पाँचवा - ज़िंदगी से तनाव को दूर रखना और ख़ुश रहना।

राकेश की कामयाबी की एक और बड़ी वजह यह भी है कि वे समय का सही इस्तेमाल करते हैं। वे समय को व्यर्थ गँवाने को सबसे बड़ा अपराध मानते हैं। वे कहते हैं, "बचपन में भी मैंने हर बार समय का सही इस्तेमाल किया। पढ़ाई के समय पढ़ाई की और खेलने के समय ख़ूब खेला। एक भी मिनट मैंने वेस्ट नहीं किया।" राकेश की बड़ी ख़ासियतों में एक बड़ी ख़ासियत यह भी है कि वे जीवन के इस मुक़ाम पर भी समय को सबसे बलवान मानते हैं और समय का सदुपयोग करने पर बल देते हैं। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इंसानी जीवन को लेकर एक सिद्धांत है, जिसपर राकेश शुरू से चलते आ रहे हैं और इस सिद्धांत को वे एक वाक्य में कहते हैं - Life is not a problem to be solved, It is a mystery to be lived.

दिल की बात सुनकर दिल का डॉक्टर न बनने के फ़ैसले ने डॉ. अम्बरीश मित्थल को चिकित्सा-क्षेत्र में दिलायी विशिष्ट पहचान

इन दिनों भारत में आयोडिन की कमी की वजह से होने वाली बीमारियाँ लोगों में बहुत ही कम देखने को मिल रही हैं, तो इसकी एक बड़ी वजह नब्बे के दशक में कुछ वैज्ञानिकों, डॉक्टरों और शोधकर्ताओं की पहल और मेहनत ही है। इसी पहल और मेहनत का नतीजा था कि भारत में हर जगह आयोडिनयुक्त नमक उपलब्ध करवाना शुरू किया गया, ताकि लोगों के शरीर में आयोडिन की कमी न रहे और वे घेघा जैसी बीमारियों का शिकार न बनें। इस पहल और मेहनत को कामयाब बनाने में डॉ. अम्बरीश मित्थल का भी योगदान रहा है। भारत में फ्लोराइडयुक्त पानी को ज़हर माना जाने लगा है, तो इसका भी बड़ा श्रेय डॉ. अम्बरीश मित्थल को ही जाता है। उत्तरप्रदेश के उन्नाव ज़िले के कुछ गाँवों में पीने के पानी पर उनके शोध की वजह से ही यह बात उजागर हुई थी कि फ्लोराइडयुक्त पानी पीने से लोगों को हड्डियों की अलग-अलग बीमारियाँ हो रही हैं। उनके शोध से उजागर हुए सच ने लोगों को पीने के पानी के मामले में सजग और सचेत रहने के लिए प्रेरित किया था। इतना ही नहीं, इन शोध के परिणामों ने कई राज्य सरकारों का ध्यान पानी में फ्लोराइड की समस्या की ओर खींचा था। अलग-अलग सरकारों ने लोगों को फ्लोराइड प्रभावित इलाक़ों में पीने का सुरक्षित पानी मुहैया कराने के लिए काम करना भी शुरू किया था। यह डॉक्टर अम्बरीश मित्थल की कोशिशों का ही नतीजा है कि भारत में लोगों को शरीर में कैल्शियम और विटामिन डी की ज़रूरत के बारे में पता चला। अलग-अलग समाज-सेवी संस्थाओं के साथ मिलकर

की गयी डॉ. अम्बरीश मित्थल की कोशिशों की वजह से ही इन दिनों दूध, घी और खाद्य तेल में विटामिन डी भी डाला जा रहा है, ताकि लोग शरीर में विटामिन डी की कमी की वजह से अलग-अलग बीमारियों का शिकार न हों। अम्बरीश मित्थल एक ऐसे डॉक्टर हैं, जिन्होंने स्वास्थ्य-रक्षा और चिकित्सा-विज्ञान में कई ऐसे काम किये हैं, जो कि भारत में उनसे पहले किसी ने नहीं किये। भारत में पहली बार बोन डेंसिटी मेज़रमेंट सिस्टम की स्थापना करने का गौरव भी डॉ. अम्बरीश मित्थल को ही प्राप्त है। उन्होंने न केवल कई अनजान बीमारियों का पता लगाया, बल्कि उनके उपचार की सही पद्धति ईजाद की। अलग-अलग माध्यमों के ज़रिये अलग-अलग जानलेवा और ख़तरनाक बीमारियों से बचने के उपायों को भी उन्होंने लाखों लोगों तक पहुँचाया है। बतौर डॉक्टर उन्होंने लाखों मरीज़ों का इलाज किया है और कई ऐसे मरीज़ों को नया जीवन दिया है, जो कि हर तरफ़ इलाज करवाकर जीने की सारी उम्मीदें खो चुके थे। डॉ. अम्बरीश मित्थल की कामयाबियाँ कई सारी हैं और वे बेमिसाल भी हैं। उनके व्यक्तित्व के कई सारे पहलू हैं, जो कि काफ़ी रोचक हैं। बचपन में वे जब बीमार पड़कर बिस्तर तक सीमित हो गये थे, तब उन्होंने डॉक्टर बनने का फ़ैसला लिया था। जब हर डॉक्टर का सपना दिल का डॉक्टर बनने का हुआ करता था, तब उन्होंने लीक से हटकर चलने का फ़ैसला लिया और काम के लिए एक ऐसा क्षेत्र चुना, जिसके बारे में उस समय के बड़े-बड़े डॉक्टर भी ज़्यादा नहीं जानते थे। अगर वे भी अपने दौर के डॉक्टरों की राह पकड़कर दिल का डॉक्टर बन जाते, तो शायद डॉक्टरों की बड़ी फ़ौज में वे भी एक सिपाही होते, लेकिन अलग राह पकड़कर उन्होंने चिकित्सा-विज्ञान की दुनिया में अपनी विशेष और विशिष्ट पहचान बनायी है। अम्बरीश की कामयाबियों और उनके जीवन के कई सारे रोचक पहलुओं से सीखने के लिए बहुत कुछ है। उनकी शानदार कहानी में भी कामयाबी के कई सारे मंत्र छिपे हुए हैं।

लोगों को प्रेरणा देने और जीवन को कामयाब बनाने के तरीक़े सिखाने वाली बेमिसाल कहानी के नायक अम्बरीश मित्थल का जन्म लखनऊ में 29 मार्च, 1958 को हुआ। उनके पिता देवकीनंदन मित्थल उत्तरप्रदेश विधानसभा के सचिव थे। माँ रुक्मिणी गृहिणी थीं। देवकीनंदन और रुक्मिणी मूल रूप से मेरठ के रहने वाले थे, लेकिन प्रशासनिक नौकरी की वजह से उन्हें लखनऊ में आकर बसना पड़ा। दोनों को कुल चार संतानें हुईं, जिनमें अम्बरीश सबसे छोटे थे। अम्बरीश के सबसे बड़े भाई उनसे बीस साल बड़े थे। बड़ी बहन अम्बरीश से 15 साल बड़ी हैं। और अम्बरीश के दूसरे बड़े भाई उनसे ग्यारह साल बड़े हैं। अपने परिवार के बारे में अम्बरीश जब

कभी किसी को भी कुछ भी बताते हैं, तब ये ज़रूर कहते हैं कि, "सही मायने में मैं अपने घर में बच्चा ही था, सभी मुझसे बड़े थे।"

अम्बरीश के पिता अपने ज़माने के प्रभावशाली लोगों में एक थे। वे देश के सबसे बड़े राज्य उत्तरप्रदेश की विधानसभा के तीसरे सचिव थे। 9 फरवरी, 1956 से लेकर 1 मार्च, 1974 यानी 18 साल तक वे उत्तरप्रदेश की विधानसभा के सचिव रहे। मुख्यमंत्री, नेता विपक्ष और दूसरे विधायकों, मंत्रियों और आला अधिकारियों का उनके घर आना-जाना लगा ही रहता था। अम्बरीश बताते हैं, "मेरे पिताजी का रुतबा बड़ा था, लेकिन उनमें अपने पद का गुरूर नहीं था। हमारा परिवार मध्यमवर्गीय परिवार था और माता-पिता ने हमें इस बात की छूट दी थी कि हम जो चाहे वह बन सकते थे।" शुरू से ही अम्बरीश के घर में अनुशासन रहा। माता-पिता ने सादगी-भरे जीवन, ऊँचे आदर्शों और अनुशासन को हमेशा महत्व दिया।

अम्बरीश ने जब से होश संभाला, तब से उन्हें अपने घर में विज्ञान और गणित की बातें ही ज़्यादा सुनने को मिलीं। दोनों बड़े भाइयों ने विज्ञान और गणित की पढ़ाई की थी। बड़े भाइयों की देखा-देखी अम्बरीश पर भी गणित और विज्ञान का जादू सिर चढ़ने लगा था। बड़े भाई और दूसरे सभी परिचित लोग भी अम्बरीश को ख़ूब पढ़-लिखकर आईआईटी में सीट हासिल करने की सलाह देने लगे थे। लेकिन उनकी दिलचस्पी बायोलॉजी यानी जीवविज्ञान में ज़्यादा थी। ऐसा भी नहीं था कि घर में सिर्फ़ पढ़ाई-लिखाई का ही माहौल था। बच्चों को खेलने-कूदने से भी कोई मनाही नहीं थी। लेकिन पढ़ाई-लिखाई के लिए समय तय था। अम्बरीश ने बताया, "सर्दी के मौसम में शाम 6 से 8 और गर्मियों के मौसम में शाम 7 से 9 बजे तक का समय पढ़ाई-लिखाई के लिए तय था। इस निर्धारित समय के दौरान पढ़ाई-लिखाई के सिवाय किसी दूसरे काम की इजाज़त नहीं थी। बाक़ी समय मन-चाहे काम की पूरी आज़ादी थी।" अम्बरीश को बचपन से ही क्रिकेट में बहुत दिलचस्पी थी। क्रिकेट का जादू उनके सिर चढ़कर बोलता था। खेलने का समय हुआ कि नहीं, वे सीधे मैदान की ओर दौड़ते थे और अपने साथियों के साथ क्रिकेट खेलने में मगन हो जाते। पेशेवर क्रिकेटर बनने का सपना तो नहीं था, लेकिन क्रिकेट से मोहब्बत हो गयी थी उन्हें।

घर-परिवार की एक और ख़ूबी थी। रात के खाने पर सभी एक जगह इक्कट्ठा होते। भोजन करते समय पिता देवकीनंदन अपने बच्चों को राजनीति की बातें बताते। प्रदेश और देश के राजनीतिक हालात पर ख़ूब चर्चा होती। बालक अम्बरीश को भी राजनीति की नरम-गरम बातें ख़ूब भाने लगी थीं। बचपन में माँ का भी

काफ़ी ज़्यादा प्रभाव अम्बरीश पर पड़ा। घर में अनुशासन बनाये रखने और बच्चों की देखभाल की बड़ी ज़िम्मेदारी माँ पर थी।

अम्बरीश जब नौवीं कक्षा में थे, तब एक घटना हुई, जिसने उन्हें उनके जीवन की मंज़िल दिखा दी। हुआ यूँ था कि अम्बरीश अचानक बीमार पड़ गये। उनके गुर्दों के कामकाज में कोई गड़बड़ी हो गयी, जिससे उनकी तबीयत बिगड़ गयी। किशोर अम्बरीश की हालत इतनी बिगड़ी कि उनका बिस्तर से बाहर निकलना भी मुश्किल हो गया। कई महीनों तक अम्बरीश अपने घर और बिस्तर में ही जकड़े रहे। लखनऊ शहर के बड़े-बड़े डॉक्टरों से उनका इलाज करवाया गया। डॉक्टरों के काम करने के तरीक़ों को देखकर अम्बरीश बहुत प्रभावित हुए। डॉक्टरों के सही इलाज की वजह से वे पूरी तरह से स्वस्थ भी हो गये। लेकिन बीमारी और उसकी वजह से हुए दुख-दर्द और इस दुख-दर्द को दूर करने में डॉक्टरों की भूमिका ने अम्बरीश को एक बड़ा फ़ैसला लेने के लिए प्रेरित किया। नौवीं के छात्र अम्बरीश ने फ़ैसला कर लिया कि वे बड़े होकर डॉक्टर बनेंगे और लोगों की बीमारियों का इलाज करेंगे। जीवविज्ञान पहले से ही उनका पसंदीद विषय था और ऊपर से उनका इलाज करने वाले डॉक्टरों ने उनके मन-मस्तिष्क पर जो गहरा असर डाला था, उसके प्रभाव में अम्बरीश ने डॉक्टर बनने की ठान ली। आठ महीनों तक बिस्तर पर रहने के दौरान अम्बरीश को एहसास हुआ कि अगर डॉक्टर बनकर लोगों की तकलीफ़ दूर की जाय, तो उन्हें भी वैसी ही दुआएँ मिलेंगी, जैसी कि उन्होंने अपने डॉक्टरों को दी हैं।

डॉक्टर बनने का मज़बूत इरादा कर लेने के बाद अम्बरीश ने पढ़ाई-लिखाई में जी-जान लगा दिया। दिन-रात मेहनत की और इसी मेहनत का नतीजा रहा कि दसवीं की बोर्ड की परीक्षा में उन्हें स्टेट रैंक मिला। अम्बरीश को वह दिन अच्छे से याद है, जब उत्तरप्रदेश माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की दसवीं क्लास के नतीज़े घोषित हुए थे, तब अख़बारवाले उनकी तस्वीर लेने उनके घर आये थे। जब अगले दिन अम्बरीश की तस्वीर मशहूर अंग्रेज़ी अख़बार पायनियर और दैनिक अख़बार नवजीवन में छपी, तब उनकी ख़ुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा।

दसवीं की परीक्षा में उम्दा नंबर लाने के बाद अम्बरीश ने इंटरमीडिएट की पढ़ाई में बायोलॉजी को अपना मुख्य विषय बनाया। इंटरमीडिएट की परीक्षा और प्री-मेडिकल टेस्ट में मिले नंबरों के आधार पर अम्बरीश को मेडिकल कॉलेज में दाख़िला तो मिल गया, लेकिन परीक्षाओं में अपने प्रदर्शन से वे न ख़ुश थे, न ही संतुष्ट। अम्बरीश कहते हैं, "जिस तरह से मैंने दसवीं की परीक्षाओं में टॉप किया था, वैसे ही प्रदर्शन की उम्मीद मुझसे बारहवीं की परीक्षा और प्री-मेडिकल टेस्ट

में की जा रही थी। लेकिन मेरी क़ाबिलीयत के हिसाब से मेरा प्रदर्शन औसत था, यह और बात थी कि इसी औसत प्रदर्शन के बावजूद मुझे मेडिकल कॉलेज में सीट मिल गयी थी।"

अम्बरीश को कानपुर मेडिकल कॉलेज में दाख़िला मिला। यहीं से उन्होंने एमबीबीएस की डिग्री ली। एक बेहद ख़ास मुलाक़ात में अम्बरीश ने हमसे एमबीबीएस की पढ़ाई के सबसे यादगार लम्हों के बारे में भी बताया। अम्बरीश के मुताबिक़, डॉक्टरी की पढ़ाई की शुरुआत में ही उन्हें इस बात का एहसास हो गया कि डॉक्टर बनने का मतलब है चौबीस घंटे की ड्यूटी। एक डॉक्टर को चौबीसों घंटे लोगों की मदद करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। अम्बरीश को मेडिकल कॉलेज के शुरुआती दिनों में ही यह बात भी पता चल गयी कि डॉक्टर के जीवन में काम का दबाव सुबह से रात तक बना रहता है।

अम्बरीश को एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान की एक बात अब भी बहुत खटकती है। वे कहते हैं, "उन दिनों ज़्यादातर विद्यार्थी किताबों को रटा करते थे। मुझे यह रटना पसंद नहीं था। लेकिन अक्सर ऐसा होता था कि जो जितना ज़्यादा रटता था, उसे उतने ज़्यादा नंबर मिलते थे। और तो और, हमें उन दिनों ऐसी बहुत सारी बातें बतायी गयीं, जिनका हमारे डॉक्टरी जीवन या भविष्य से कोई वास्ता ही नहीं था। पता नहीं क्यों, ऐसी बातें सिलेबस का हिस्सा हुआ करती थीं। हमें ऐसी बहुत सारी बातें बतायी गयी थीं, जिनका जीवन में कोई महत्व ही नहीं था। रटना-रटाना और बेमतलब की बातें सुनना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं था। उस समय हमारा मेडिकल एजुकेशन सिस्टम एक ढ़र्रे पर चलता था और पुराना हो चुका था। हमारे सिस्टम में अब भी सुधार की ज़रूरत है। मुझे लगता है कि अगर हमने इस सिस्टम में बदलाव बहुत पहले कर लिये होते, तो बहुत फ़ायदा होता।"

अम्बरीश ने एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान ही अपना जीवन-साथी भी चुन लिया था। यही वजह है कि भूलना चाहें, तब भी वे मेडिकल कॉलेज की उन यादों को भूल नहीं सकते हैं, क्योंकि उन यादों से उनकी जीवन-साथी का भी सीधा संबंध जो है। डॉ. मित्थल की पत्नी डॉ. रंजना आँखों की डॉक्टर हैं और वे इन दिनों नयी दिल्ली के इन्द्रप्रस्थ अपोलो अस्पताल में बतौर 'सीनियर कंसलटेंट एंड ऑय स्पेशलिस्ट' अपनी सेवाएँ दे रही हैं।

एमबीबीएस की पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद अम्बरीश ने मेडिसिन के किसी फील्ड में स्पेशलाइजेशन करने की ठानी। घर-परिवार के लोगों ने अम्बरीश को दिल का डॉक्टर बनने की सलाह दी। कार्डियोलॉजी में अम्बरीश का रजिस्ट्रेशन

भी हो गया था। लेकिन अम्बरीश के मन में कुछ और ही चल रहा था। वे लीक से हटकर कुछ नया करने की सोच रहे थे। वे ऐसे रास्ते पर नहीं जाना चाहते थे, जिस पर कई लोग जा चुके हैं और कई लोग और भी जाने को तैयार हैं। उनके मन में यह बात गाँठ बाँधकर बैठ गयी थी कि जीवन में कुछ नया करना है, कुछ ऐसा करना है, जो पहले किसी ने नहीं किया। अम्बरीश ने कार्डियोलॉजी में डीएम करने के रास्ते को छोड़कर कुछ नया और बड़ा करने के इरादे से नयी दिल्ली का रुख़ किया। बड़ी बात यह भी है कि उन दिनों बड़े-बड़े अस्पतालों और बाज़ार में दिल के डॉक्टरों की माँग काफ़ी ज़्यादा थी। कार्डियोलॉजिस्ट होने का मतलब था, समाज में बड़ा रुतबा होना। कार्डियोलॉजिस्ट होने से सिर्फ़ शोहरत ही नहीं मिलती थी, दिल के डॉक्टरों की आमदनी भी ख़ूब ज़्यादा थी। लेकिन अम्बरीश ने अपने दिल की आवाज़ सुनी और दिल का डॉक्टर न बनकर ज़िंदगी में कुछ नया करने का मज़बूत फ़ैसला लिया। इसी फ़ैसले की वजह से वे अपनी ज़िंदगी में वे सब कामयाबियों हासिल कर पाये, जो बड़े-बड़े डॉक्टर और बड़ी-बड़ी शख़्सियतें अपनी ज़िंदगी में हासिल नहीं कर पायीं।

अम्बरीश वे दिन भी कभी नहीं भूल सकते, जब वे दिल्ली में नौकरी की तलाश में इधर-उधर घूम-फिर रहे थे। इसी तलाश में वे एक दिन अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान यानी एम्स गये। वे अनायास ही एम्स गये थे और एम्स क्या गये, उनके जीवन को एक नयी दशा और दिशा मिल गयी। उन दिनों एम्स में कुछ बड़े डॉक्टर घेघा उन्मूलन कार्यक्रम से जुड़े थे। इन डॉक्टरों को शोध और अनुसंधान के लिए प्रतिभाशाली और क़ाबिल लोगों की ज़रूरत थी। चूँकि यह काम लाखों लोगों की स्वास्थ्य-रक्षा से जुड़ा था, अम्बरीश ने ख़ुद को घेघा उन्मूलन कार्यक्रम से जोड़ लिया। उन दिनों घेघा बहुत बड़ी बीमारी थी। शरीर में आयोडिन की कमी की वजह से लोगों को यह बीमारी होती थी। इस बीमारी की वजह से लोगों का गला असाधारण रूप से फूल जाता था। होता यह था कि शरीर में आयोडीन की कमी की वजह से थाइरॉइड ग्रंथि में सूजन आ जाती थी और इसी से गला फूल जाता था। यह बीमारी ज़्यादातर उन क्षेत्रों के लोगों को होती थी, जहाँ पानी में आयोडीन नहीं होता था, या फिर कम होता था।

एम्स की ओर से शुरू किये गये शोध, अनुसंधान और अध्ययन का हिस्सा बनने के बाद अम्बरीश को उत्तरप्रदेश, बिहार, असम जैसे कई राज्यों का दौरा करने और वहाँ घेघा बीमारी से पीड़ित लोगों से मिलने और उनकी समस्याएँ जानने का मौक़ा मिला। अपने शोध और अनुसंधान के दौरान अम्बरीश के सामने कई सारे चौंकाने वाले तथ्य सामने आये। अम्बरीश को पता चला कि गर्भावस्था के दौरान

महिलाओं के शरीर में आयोडीन की कमी की वजह से कई बच्चे ऐसे पैदा हो रहे हैं, जो कि मानसिक और शारीरिक रूप से काफ़ी कमज़ोर हैं। थाइरॉइड ग्रंथि से जुड़ी इस बीमारी को क्रेटीनता कहते हैं। क्रियाटिन इफ़ेक्ट की वजह से कई बच्चे ऐसे पैदा हुए, जिनको हड्डियों की लाइलाज बीमारी है। अम्बरीश ने आयोडीन की कमी की वजह पैदा हुए ऐसे बच्चे भी देखे, जिनकी हड्डियाँ इतनी बिगड़ी हुई थीं कि वे चल-फिर भी नहीं सकते थे।

अम्बरीश ने भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान और संजय गांधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान के प्रोफ़ेसरों, दूसरे डॉक्टरों और विशेषज्ञों के साथ मिलकर भारत का सर्वव्यापी आयोडिनयुक्त नमक कार्यक्रम तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसी कार्यक्रम की वजह से यह सुनिश्चित हुआ कि भारत में जहाँ भी नमक बिकेगा, वह आयोडिनयुक्त होगा, ताकि कोई भी भारतीय आयोडीन की कमी की वजह से होने वाली किसी भी बीमारी का शिकार न हो। यह कार्यक्रम भारत में सफल हुआ और अब भी लागू है।

ग़ौरतलब है कि उन दिनों यानी नब्बे के दशक में सर्वव्यापी आयोडिनयुक्त नमक कार्यक्रम को अमल में लाना आसान नहीं था। कुछ ताक़तों/संस्थाओं/लोगों ने इस कार्यक्रम को विरोध किया था। इन संस्थाओं/लोगों का आरोप था कि कुछ विदेशी कंपनियों के झाँसे में आकर ही एम्स के डॉक्टर और विशेषज्ञ इस कार्यक्रम को भारत में लागू करवाने की कोशिश कर रहे हैं। आरोप यह भी था कि आयोडिनयुक्त नमक बनाने वाली कंपनियों को फ़ायदा पहुँचाने के मक़सद से ही सर्वव्यापी आयोडिनयुक्त नमक कार्यक्रम को अमल में लाने की पुरज़ोर कोशिश की जा रही है। इन संस्थाओं/लोगों का कहना था कि इस कार्यक्रम की वजह से भारत के स्थानीय नमक निर्माताओं और कारोबारियों की रोज़ी-रोटी छिन जाएगी। अम्बरीश ने बताया, "जिन लोगों ने उस कार्यक्रम का विरोध किया था, वे लोग ऐसे गाँव गये ही नहीं थे, जहाँ आयोडिन की कमी की वजह से लोग बीमार और बदहाल थे। इन लोगों को शरीर में आयोडिन की कमी से होने वाले नुकसान के बारे में मालूम ही नहीं था। ये लोग बड़े-बड़े शहरों में और एसी कमरों में बैठकर लेख लिख रहे थे और कार्यक्रम का विरोध कर रहे थे। चूँकि यह कार्यक्रम लोकहित में था, सरकार ने इसे अमल में लाया और भारतीय लोगों में नमक के ज़रिये आयोडिन की कमी दूर की गयी।" सर्वव्यापी आयोडिनयुक्त नमक कार्यक्रम में अपने योगदान के बावजूद अम्बरीश इस कार्यक्रम की कामयाबी का ज़रा-सा भी श्रेय लेने से बचते दिखायी देते हैं। वे कहते हैं, "मेरी भूमिका मामूली थी।"

दिलचस्प बात यह भी है कि एम्स ने एंडोक्रिनोलॉजी में सुपर स्पेशलिटी कोर्स भी शुरू किया और अम्बरीश 1987 में एम्स से एंडोक्रिनोलॉजी में डीएम की डिग्री लेने वाले पहले डॉक्टर बने। अम्बरीश ने जब एंडोक्रिनोलॉजी को अपना स्पेशलाइजेशन बनाया था, तब देश में बहुत कम लोग इस फील्ड के बारे में जानते थे। कई डॉक्टर भी एंडोक्रिनोलॉजी के बारे में ज़्यादा नहीं जानते थे। जब अम्बरीश ने एंडोक्रिनोलॉजी में डीएम की डिग्री ली, तब उनकी माँ को भी नहीं मालूम था कि उनका बेटा आगे क्या करेगा और किस तरह के मरीज़ों का इलाज करेगा। अपनी इन्हीं शंकाओं का समाधान करने के मक़सद से अम्बरीश की माँ ने लखनऊ में मेडिकल के एक प्रोफ़ेसर से बात की। उस प्रोफ़ेसर ने कहा था कि अम्बरीश बहुत ही तेज़ दिमाग़ वाला इंसान है और अब चूँकि उसने एंडोक्रिनोलॉजी को चुना है, वह अनुसंधान ही करेगा। यह बात सुनकर माँ कुछ निराश हुई थीं और इसके बाद उन्होंने अम्बरीश से कहा था - बेटा, तुम्हें जो करना है वह करो, लेकिन डॉक्टर बने हो, तो लोगों की मदद ज़रूर करना और मरीज़ों को ज़रूर देखना। अम्बरीश कहते हैं, "वे दिन ही कुछ ऐसे थे कि प्रोफ़ेसर को भी यह नहीं मालूम था कि एंडोक्रिनोलॉजी फील्ड में काम करने वाले डॉक्टर क्या करते हैं। उस प्रोफ़ेसर ने मेरी माँ से जो बातें कही थीं, उन्हें सुनकर मुझे भी बड़ा आश्चर्य हुआ था। मुझे भी शुरू में लगा था कि यह फील्ड सिर्फ़ डायबिटीज़ और थाइरॉइड से जुड़ी है, लेकिन मैं जैसे-जैसे काम करता गया, वैसे-वैसे मुझे एहसास हुआ कि यह एक ऐसी फील्ड है, जो किसी न किसी रूप में हर भारतीय से जुड़ी है।"

एम्स से डीएम की डिग्री लेने के बाद अम्बरीश संजय गांधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान से जुड़े। इस संस्थान में काम करते हुए भी अम्बरीश ने देश को जो सेवाएँ दीं, वे अमूल्य हैं। इसी संस्थान में काम करते हुए अम्बरीश ने देश और दुनिया का ध्यान फ्लोराइडयुक्त पानी पीने से होने वाले नुकसान की ओर आकर्षित किया। इतना ही नहीं, अम्बरीश ने संजय गांधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान के ज़रिये भारत में पहली बार बोन डेंसिटी मेज़रमेंट सिस्टम की स्थापना की और भारत में ऑस्टियोपोरोसिस के बारे में लोगों में जागरूकता लाना शुरू किया।

फ्लोराइडयुक्त पानी से होने वाले नुकसान पर शोध करने के पीछे एक बड़ी घटना थी। बात उन दिनों की है, जब अम्बरीश संजय गांधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान में काम कर रहे थे। 16 साल का एक नवयुवक अस्पताल आया था। उस नवयुवक की हड्डियाँ कुछ इस तरह से मुड़ गयी थीं कि वह ठीक तरह से चल नहीं पा रहा था। अस्पताल में हड्डियों के डॉक्टरों ने उस नवयुवक का परीक्षण

किया। उन्हें बीमारी के बारे में कुछ भी ठीक तरह से समझ में नहीं आया। समस्या हड्डियों की ही दिख रही थी, लेकिन बीमारी की वजह क्या थी, इसके बारे में उन्हें कुछ भी पता नहीं चल पा रहा था। हड्डियों के डॉक्टरों को लगा कि मामला शायद हॉर्मोन से जुड़ा हुआ हो सकता है, इसी वजह से उन्होंने मामले को एंडोक्रिनोलॉजी के विशेषज्ञ अम्बरीश को रिफर कर दिया। अम्बरीश ने जब उस नवयुवक को देखा, तो उन्हें भी बहुत आश्चर्य हुआ। मरीज़ की हालत बहुत ख़राब थी। उसका शरीर बड़े ही अजीब ढंग का हो गया था। अर्धचन्द्राकार में उसका शरीर मुड़ गया था। अम्बरीश ने इस मामले को गंभीरता से लिया। उन्होंने ठान लिया कि वे शरीर के इस विकार के कारणों का पता लगाकर ही रहेंगे। अम्बरीश ने नवयुवक के ख़ून की जाँच करवायी। और भी दूसरे सारे परीक्षण करवाये। जाँच और परीक्षण से एक बात तो साफ़ हो गयी थी कि समस्या हड्डियों की है और इस समस्या का कारण खान-पान से जुड़ी चीज़ें ही हैं। अम्बरीश ने अपना शोध-अनुसंधान शुरू किया। किताबों की ख़ाक छान मारी। कुछ किताबों में शरीर के उस तरह से बिगड़ जाने जा ज़िक्र था, जिस तरह से उस नवयुवक का शरीर था। इसी बीच अम्बरीश को लगा कि उन्हें नवयुवक के घर और गाँव जाकर भी मुआयना करना चाहिए। अम्बरीश ने अपना स्कूटर लिया और उसपर सवार होकर मरीज़ के गाँव गये। मरीज़ उन्नाव ज़िले के असोहा इलाक़े का रहने वाला था। जब अम्बरीश मरीज़ के इलाक़े पहुँचे, तो वे ये देखकर दंग रह गये कि वहाँ पर कई लोगों की हड्डियाँ टेड़ी-मेड़ी हैं। क्या बच्चे, क्या जवान और क्या बूढ़े...क्या मर्द और क्या औरतें, कइयों को हड्डियों की समस्या थी। अम्बरीश ने इलाक़े से पीने के पानी के सैम्पल लिये और उनकी जाँच के लिए उन्हें लैब भेज दिया। जब लैब से रिपोर्टें आयीं, तब अम्बरीश को लोगों की हड्डियों के बिगड़ जाने का कारण मालूम चल गया। उन्नाव ज़िले में लोग जो पानी पीते थे, उसमें फ्लोराइड की मात्रा ज़्यादा थी। पानी में फ्लोराइड की मात्रा ज़्यादा हो जाने की वजह से वह ज़हर जैसा हो जाता है। फ्लोराइडवाला पानी पीने से फ्लोराइड जाकर हड्डियों पर जम जाता है और उनकी ताक़त को कमज़ोर करने लगता है। उन्नाव और आसपास के इलाक़ों में लोग हैण्ड-पम्पों और कुओं के ज़रिये ज़मीन का पानी पिया करते थे और इसी भू-जल में फ्लोराइड की मात्रा ज़्यादा थी।

लोगों की हड्डियों से जुड़ी बीमारियों और दिक़्क़तों के कारणों का पता लगा लेने के बाद अम्बरीश ने लोगों को सुरक्षित पीने का पानी मुहैया करवाने के लिए एक मुहिम चलायी। अम्बरीश की कोशिशों और पहल की वजह से ही फ्लोराइड प्रभावित गाँवों में सरकार ने टैंकों के ज़रिये सुरक्षित पीने का पानी उपलब्ध करवाना शुरू किया। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि अलग-अलग राज्यों में कराये गये शोध-

अनुसंधान से यह पता चला कि देश-भर में 6 से 7 करोड़ लोग ऐसे हैं, जो कि फ्लोराइडयुक्त पानी का शिकार हैं। देश-भर में लोगों को सुरक्षित पानी उपलब्ध करवाने के लिए तरह-तरह के कार्यक्रम शुरू किये गये। अम्बरीश को इस बात का दुख है कि भारत में अभी भी कई ऐसे गाँव हैं, जहाँ लोगों को सुरक्षित पानी नहीं उपलब्ध करवाया जा रहा है और ये लोग फ्लोराइडयुक्त पानी, जो कि ज़हर के बराबर है, पीने को मजबूर हैं।

अपने डॉक्टरी जीवन के दौरान अम्बरीश ने लोगों को अलग-अलग तरह की बीमारियों से बचाने के लिए कई सारे प्रयोग किये हैं। लोगों को स्वस्थ रखने के लिए कई सारे शोध और अनुसंधान किये हैं। उत्तरप्रदेश के कई गाँवों में फ्लोराइडयुक्त पानी से लोगों को हुए नुकसान पर किये गये उनके शोध की महत्ता और गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए हार्वर्ड मेडिकल स्कूल ने उन्हें अपने यहाँ लेक्चर देने के लिए भी आमंत्रित किया। इतना ही नहीं, इसी तरह का शोध उनकी प्रयोगशाला में करने की गुज़ारिश भी की। बड़ी बात यह रही कि अम्बरीश को हार्वर्ड मेडिकल स्कूल ने प्रतिष्ठित फोगेर्टी फ़ेलोशिप भी प्रदान की। उन दिनों हर साल किसी एक व्यक्ति को ही फोगेर्टी फ़ेलोशिप दी जाती थी और साल 1993-94 में यह गौरव भारत के अम्बरीश को प्राप्त हुआ।

वैसे भी अम्बरीश ने अपने जीवन में कई ऐसे काम किये, जो कि भारत में कभी नहीं हुए। अम्बरीश के प्रयोगों ने भारत में चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में कई नये मापदंड स्थापित किये। उनके शोध-पत्रों ने भारत में चिकित्सा-विज्ञान को नये आयाम प्रदान किये। अम्बरीश ने ही साल 1997 में संजय गांधी स्नातकोत्तर आयुर्विज्ञान संस्थान में भारत का पहला बोन डेंसिटी मेज़रमेंट सिस्टम स्थापित किया। वे पहले ऐसे भारतीय बने, जिन्होंने जेआईसीए फ़ेलो के रूप में जापान में बोन डेंसिटी मैनेजमेंट का प्रशिक्षण प्राप्त किया। अम्बरीश ही भारत के ऐसे पहले डॉक्टर हैं, जिन्होंने बताया कि भारत में ऑस्टियोपोरोसिस एक बहुत बड़ी समस्या है और इससे 5 करोड़ से ज़्यादा लोग पीड़ित हैं। अम्बरीश ने ही लोगों में ऑस्टियोपोरोसिस से बचने के उपायों के बारे में जागरूकता लाना भी शुरू किया। अम्बरीश ने अपने शोध-अनुसंधान से यह पता लगाया कि भारत में लाखों लोग शरीर में विटामिन डी की कमी की वजह से तरह-तरह की बीमारियों का शिकार हैं। भारतीयों के शरीर में विटामिन डी की कमी को दूर करवाने के मक़सद ने अम्बरीश ने कुछ संस्थाओं के साथ मिलकर विटामिन डी युक्त दूध और खाद्य तेल बनवाने और उसका इस्तेमाल करवाने की पहल शुरू करवाई। अम्बरीश ने इस बात के बारे में भी लोगों में जागरूकता लायी कि कई भारतीय महिलाओं को गर्भावस्था

के दौरान मधुमेय यानी डायबिटीज़ हो जाता है। अम्बरीश ही पहले ऐसे भारतीय हैं, जिन्हें विश्व स्वास्थ्य संगठन की ग्लोबल टास्क फ़ोर्स ऑन ऑस्टियोपोरोसिस, एशिया पसिफ़िक एडवाइजरी कौंसिल और बोर्ड ऑफ़ गवर्नेंस ऑफ़ द इंटरनेशनल ऑस्टियोपोरोसिस फाउंडेशन जैसी अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं में काम करने और अपनी सेवाएँ देने का अवसर प्राप्त हुआ।

अम्बरीश दो या तीन नहीं, बल्कि कई सारी राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं से जुड़े रहे हैं। उन्होंने सालों तक कई संस्थाओं का सफल नेतृत्व भी किया है। वे एनडोक्रिन सोसाइटी ऑफ इंडिया, इंडियन सोसाइटी ऑफ बोन एंड मिनरल रिसर्च और बोन एंड जॉइंट डिकेड के अध्यक्ष के रूप में देश को अपनी अमूल्य सेवाएँ दे चुके हैं। अम्बरीश के शोध-पत्र और लेख देश और दुनिया की कई नामचीन पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। अलग-अलग समाचार-पत्रों में अपने लेखों और टेलीविज़न चैनलों पर अलग-अलग कार्यक्रमों के ज़रिये भी अम्बरीश लोगों को बीमारियों से दूर रहने के उपाय बता रहे हैं।

चिकित्सा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में उनकी असाधारण सुविधाओं को मान्यता देते हुए देश-विदेश की कई बड़ी संस्थाओं ने उन्हें अलग-अलग बड़े पुरस्कारों/अवार्डों से सम्मानित किया है। वे पहले और अब तक के अकेले ऐसे भारतीय हैं, जिन्हें अमेरिकन सोसाइटी ऑफ बोन एंड मिनरल रिसर्च ने 'बॉय फ्रेम अवार्ड' से सम्मानित किया है। यह प्रतिष्ठित अवार्ड अम्बरीश को साल 2004 में दिया गया था। साल 2005 में उन्हें इंटरनेशनल ऑस्टियोपोरोसिस फाउंडेशन का हेल्थ प्रोफ़ेशनल अवेयरनेस अवार्ड दिया गया। भारत सरकार अम्बरीश की सेवाओं को ध्यान में रखते हुए साल 2015 में उन्हें 'पद्मभूषण' से भी अलंकृत कर चुकी है।

भारत में एंडोक्रिनोलॉजी को स्थापित करने और उसकी महत्ता को जन-जन तक पहुँचाने में अहम भूमिका निभाने वाले अम्बरीश मित्थल इन दिनों गुडगाँव के मेदांता द मेडिसिटी अस्पताल में एंडोक्रिनोलॉजी और डायबिटीज़ प्रभाग के मुखिया हैं। मेदांता अस्पताल ज्वाइन करने से पहले कुछ सालों के लिए अम्बरीश मित्थल ने नयी दिल्ली के इन्द्रप्रस्थ अपोलो अस्पताल में भी अपनी सेवाएँ दीं। सरकारी चिकित्सा संस्थाओं को छोड़कर बड़े निजी अस्पतालों को शिफ्ट हो जाने को लेकर कुछ लोगों ने उनकी आलोचना भी की। अम्बरीश इन आलोचनाओं पर ध्यान नहीं देते और ये कहकर अपने फ़ैसलों का सही ठहराते हैं कि, "आप काम कहीं भी क्यों न करें, आपको मरीज़ों का इलाज करना ही है। अस्पताल बदलने से आपका काम थोड़े ही बदलता है। थोड़े ही आपके इलाज करने का तरीक़ा बदलता है। सरकारी

अस्पताल हो या कॉर्पोरेट हॉस्पिटल, डॉक्टर का काम तो वही रहेगा - मरीज़ों का इलाज करना।" एक सवाल के जवाब में अम्बरीश के यह भी कहा, "मैं जहाँ भी रहूँ, लोगों की सेवा करता ही रहूँगा। मेरी ज़िंदगी का मक़सद ही है - लोगों को स्वास्थ्य-लाभ पहुँचाना। पब्लिक हेल्थ के सेक्टर में मैं जितना कर पाऊँगा, उनता करूँगा।" एक और बात अम्बरीश ज़ोर देकर कहते हैं। यह बात उनकी ओर से उन लोगों को सलाह भी है, जो कि डॉक्टर बनना चाहते हैं। अम्बरीश कहते हैं, "अगर लोगों की सेवा करने का इरादा है, तभी किसी इंसान को डॉक्टर बनना चाहिए। जो इंसान बड़ी-बड़ी कारों, बड़े-बड़े बंगलों और ख़ूब-धन दौलत के लिए डॉक्टर बनना चाहता है, वह ज़िंदगी में निराश ही रहेगा।"

महत्वपूर्ण बात यह भी है कि बतौर डॉक्टर अम्बरीश ने अपने जीवन में अब तक लाखों मरीज़ों का इलाज किया। उन्होंने कई ऐसे मरीज़ों को इलाज किया है, जिनकी बीमारी को दूसरे कई सारे डॉक्टर समझ ही नहीं पाये थे। पिछले कई सालों से अम्बरीश हर दिन कई सारे मरीज़ों की जाँच करते हुए उनकी बीमारी का पता लगाने के अलावा उनका इलाज कर रहे हैं। अपने अनुभव और ज्ञान के आधार पर उन्होंने कई सारे पेचीदा मामलों को बड़ी आसानी से सुलझाया है। दो ऐसे मामले हैं, जिनके बारे में बताते हुए अम्बरीश बहुत भावुक हो जाते हैं और उनके चेहरे पर ख़ुशी साफ़ छलकती है।

गोरखपुर के रहने वाले एक बच्चे को एक अजीब-सी बीमारी हो गयी थी। उसकी हड्डियाँ कमज़ोर पड़ने लगी थीं और उनमें बहुत दर्द होने लगा था। कई सारे डॉक्टरों ने उसका परीक्षण किया, लेकिन बीमारी और उसके कारण का पता नहीं लगा पाये। कुछ डॉक्टरों ने उस मरीज़ को अम्बरीश के पास जाने की सलाह दी। जब वह मरीज़ अम्बरीश के पास पहुँचा, तब उसकी हालत काफ़ी ख़राब थी। अम्बरीश ने मामले को अपने हाथों में लिया और मरीज़ के ख़ून की जाँच करवाई और दूसरे परीक्षण भी करवाये। कुछ परीक्षणों से यह बात सामने आयी कि उस बच्चे को हाइपो-पैराथाइरोइडइज़म की समस्या है। उस लड़के के ख़ून में कैल्शियम ज़रूरत से काफ़ी कम हो जाता था। बीमारी का पता लगने के बाद अम्बरीश ने इलाज शुरू किया और कुछ ही दिनों में वह लड़का रोगमुक्त हो गया। अम्बरीश ने बताया, "वह लड़का अब बड़ा हो चुका है और अमेरिका में आराम से अपनी जिंदगी जी रहा। अब भी वह मुझसे संपर्क में रहता है।"

दूसरा मामला एक महिला का था। इस महिला की बीमारी को भी दूसरे डॉक्टर नहीं जान पाये थे। कई सारे परीक्षण किये गये, फिर भी बीमारी का पता नहीं चल

पाया था। दिल्ली की रहने वाली इस महिला को भी हड्डियों की परेशानी थी। उसकी हड्डियों में असहनीय दर्द होता था और वह चल-फिर भी नहीं पाती थी। उसकी ज़िंदगी व्हीलचेयर पर सिमट कर रह गयी थी। कुछ डॉक्टरों की सलाह पर वह अम्बरीश से मिलने आयी थी। अम्बरीश को देखते ही वह रो पड़ी थी। उसके आँसू थमने का नाम नहीं ले रहे थे। उसके हावभाव और उसकी बातों से साफ़ था कि अम्बरीश में ही उसकी आख़िरी उम्मीद टिकी है। अम्बरीश ने महिला की हड्डियों की जाँच करवायी। जाँच में पता चला कि कई हड्डियों में फ्रैक्चर है, यानी हड्डियाँ टूट चुकी हैं। ख़ून की जाँच से पता चला कि इस महिला के ख़ून में कैल्शियम और विटामिन डी था ही नहीं। अम्बरीश ने उस महिला का इलाज शुरू किया और तीन महीने में वह महिला पूरी तरह से ठीक हो गयी। अम्बरीश की दवाइयों का असर कुछ इस तरह से हुआ था कि उस महिला की हड्डियाँ फिर से मज़बूत हो गयीं और वह महिला चलने-फिरने लगी। पूरी तरह से ठीक होकर जब वह महिला अस्पताल पहुँची और अम्बरीश को देखा, तो उसके चेहरे पर ख़ुशी और कृतज्ञता का भाव साफ़ दिखायी दे रहा था। अम्बरीश कहते हैं, "मेरे लिए अपने मरीज़ों की ख़ुशी ही सबसे ज़्यादा मायने रखती है। मरीज़ों का इलाज करने के बाद जब वे ठीक हो जाते हैं और दिल से दुआ देते हैं, तब मुझे सबसे ज़्यादा ख़ुशी मिलती है।"

एक सवाल के जवाब में इस लोकप्रिय और प्रसिद्ध डॉक्टर ने कहा, "अवार्ड मिलने पर ख़ुशी तो होती ही है। अवार्ड की वजह से मान्यता मिलती है और कई सारे लोगों को यह भी पता चलता है कि मैं क्या काम कर रहा हूँ। लेकिन अवार्ड मिले या न मिले, मेरा काम तो चलता ही रहता है। मरीज़ों की ख़ुशी में ही मेरी ख़ुशी है। और जब मैं पब्लिक हेल्थ सेक्टर में अपने योगदान को देखता हूँ, तब भी मुझे ख़ुशी मिलती है और एहसास होता है कि हाँ, मैंने अच्छा काम किया है।"

यहाँ यह बताना भी ज़रूरी है कि अम्बरीश ने कई बीमारियों के बारे में पता लगाया है और लोगों को ये बीमारियाँ न हों, इसके लिए किये जाने वाले उपाय भी लोगों को बताये हैं। वे कहते हैं, "हर दिन मेरे पास कई ऐसे मामले आते हैं, जो कि काफ़ी पेचीदा होते हैं। हक़ीक़त तो यह भी है कि हर मरीज़ का इलाज अपने आप में एक चुनौती होती है। ज़्यादातर लोग ऐसे आते हैं, जो कि हर जगह कोशिश कर चुके होते हैं, इसी वजह से हर मरीज़ का इलाज आसान नहीं होता।" अम्बरीश इस बात को स्वीकार करने में ज़रा-सा भी संकोच नहीं करते कि डॉक्टरों से भी ग़लतियाँ होती हैं। वे यह भी कहने से ज़रा भी नहीं हिचकिचाते कि उनसे भी ग़लतियाँ हुई हैं। अम्बरीश कहते हैं, "कई बार ऐसा होता है कि डॉक्टर को समझ में नहीं आता कि क्या किया जाय। डॉक्टर भी उपाय ढूँढने लगते हैं। वैसे भी हर मरीज़ अपने

आप में हर डॉक्टर के लिए एक चुनौती ही होता हैं। हर डॉक्टर को यह बात कभी भी नहीं भूलनी चाहिए कि हर मरीज़ तकलीफ़ के साथ ही डॉक्टर के पास आता है और डॉक्टर का काम भी यही है किसी भी तरह से मरीज़ की तकलीफ़ को दूर किया जाय। हर डॉक्टर को एक बार मरीज़ की स्थिति में ख़ुद को बिठाकर देखना चाहिए, तभी जाकर उन्हें इस बात का एहसास होगा कि मरीज़ किस हालत में डॉक्टर के पास आते हैं। हर डॉक्टर की बस एक ही कोशिश होनी चाहिए कि उसके पास आने वाला हर मरीज़ ख़ुश और संतुष्ट होकर जाय।"

अम्बरीश इन दिनों सूचना-प्रौद्योगिकी और नयी टेक्नोलॉजी की मदद से भी मरीज़ों का इलाज करने में जुटे हैं। वे इंटरनेट, मोबाइल फ़ोन एप्प जैसी सुविधाओं का इस्तेमाल कर लोगों तक अपनी बात और सलाह पहुँचाने की कोशिश में भी हैं। अम्बरीश चाहते हैं कि कई मरीज़, ख़ास तौर पर वे मरीज़ जो ज़्यादा बीमार हैं, वे घर बैठे ही व्हाट्सएप्प जैसे मोबाइल फ़ोन एप्लीकेशन्स के ज़रिये उनकी सलाह ले सकें। अम्बरीश ने बताया कि वे कभी भी कोई लक्ष्य लेकर नहीं चलते, लेकिन फिलहाल उनकी तीन-चार प्राथमिकताएँ हैं। पहली प्राथमिकता है - मरीज़ों को बेहतर सेवाएँ देना। दूसरी प्राथमिकता है - आईटी का इस्तेमाल कर मरीज़ों को सलाह-मशवरा देना, ताकि हॉस्पिटल-विजिट कम हो सकें। तीसरी प्राथमिकता - सरकारों के ज़रिये दूध, घी और तेल में विटामिन डी डलवाने के लिए संस्थाओं और कंपनियों को मजबूर करना और चौथी प्राथमिकता है - मीडिया के ज़रिये अलग-अलग मुद्दों को लेकर लोगों में स्वास्थ्य और चिकित्सा-शास्त्र के प्रति बनी ग़लत धारणाओं को दूर करना। इन दिनों अम्बरीश सोशल मीडिया की मदद से भी लोगों में जागरूकता लाने और उन्हें बीमारियों से बचने के उपाय बता रहे हैं। वे सोशल मीडिया पर काफ़ी एक्टिव हैं और ई- कंसल्टेंसी यानी इंटरनेट के ज़रिये सलाह-मशवरा देने को भी ख़ूब बढ़ावा दे रहे हैं।

फ़ौलादी इरादों, मेहनत और अनुशासन ने बनाया है डॉ. संजीव बगई को विशेष, विशिष्ट और विवेकी डॉक्टर

घटना नब्बे के दशक की है। 6 साल के एक बच्चे को उसके माता-पिता इलाज के लिए अस्पताल ले गये। बच्चे की हालत बहुत ही ख़राब थी। पीलिया ने उसे बुरी तरह से जकड़ लिया था। हालत इतनी नाज़ुक थी कि माता-पिता भी जानते थे कि बच्चे के ज़िंदा बचने की संभावना बहुत ही कम है। माता-पिता को लगता था कि कोई करिश्मा ही उनकी संतान को बचा सकता है और यह करिश्मा किसी अच्छे डॉक्टर के हाथों से ही हो सकता है। एक डॉक्टर ने बच्चे की ज़िम्मेदारी अपने हाथों में ली। उस युवा डॉक्टर ने सबसे पहले तो बच्चे का गहन परीक्षण किया और उसकी नाज़ुक हालत को देखते हुए तुरंत अस्पताल में भर्ती करवा लिया। ख़ून की जाँच और जिगर के परीक्षण से पता चला कि बच्चे के ख़ून में बिलीरुबिन 55 को भी पार कर गया है, जबकि सामान्य स्थिति में उसे 5 ही होना चाहिए। ख़ून में बिलीरुबिन ज़रूरत से बहुत ही ज़्यादा हो जाने की वजह से उस बच्चे की त्वचा, आँखें और चेहरे का रंग पीला पड़ गया था। पीलिया भी मामूली नहीं था, उसका

रूप भयानक था। अस्पताल में भर्ती कर बच्चे का इलाज शुरू करने के बावजूद उसकी हालत में सुधार नहीं हो रहा था। बच्चे की हालत इतनी ज़्यादा ख़राब हो गयी कि उसके गुर्दों ने भी काम करना बंद कर दिया। कुछ दिनों बाद फ़ेफड़ों और जिगर ने भी काम करना बंद कर दिया। एक समय तो डॉक्टर को लगा कि बच्चे की जान बचाने के लिए उसका लीवर ट्रांसप्लांट करना होगा, लेकिन बच्चे की हालत इतनी ख़राब थी कि लीवर ट्रांसप्लांट करना नामुमकिन-सा और जोखिम-से भरा काम था। जब यह बात लड़के के माता-पिता को पता चली, तब उन्हें लगा कि अब उनका बच्चा ज़िंदा बचेगा ही नहीं। लेकिन बच्चे का इलाज कर रहे डॉक्टर ने विकट संकट में भी उम्मीद नहीं छोड़ी। बच्चे की नाज़ुक हालत देखकर डॉक्टर के दिल की धड़कनें भी तेज़ हुई थीं, लेकिन डॉक्टर ने न तो हिम्मत हारी और न ही अपनी कोशिश को रोका। उस डॉक्टर ने पहले भी कई बच्चों का इलाज किया था। कई सारे जटिल मामलों को सुलझाया था। बुरी हालत में लाये गये कई सारे बच्चों का इलाज कर उन्हें दुबारा चुस्त-दुरुस्त और तंदुरुस्त बनाया था। लेकिन इस लड़के का मामला पिछले सभी मामलों से अलग था। यहाँ स्थिति विकट नहीं, बल्कि विकटतम थी। मरीज़ की हालत इतनी ख़राब थी कि उसे देखकर किसी भी डॉक्टर के हाथ-पाँव फूल जाएँ। लेकिन उस डॉक्टर ने 6 साल के उस बच्चे की जान बचाने के लिए अपना पूरा डॉक्टरी अनुभव और अपनी सारी ताक़त झोंक दी। डॉक्टर की मेहनत रंग दिखाने लगी। बच्चे के शरीर पर से पीला रंग धीरे-धीरे उतरने लगा। पीलिया को दूर होने में एक महीने से ज़्यादा का समय लगा। बच्चा भी क़रीब डेढ़ महीने तक अस्पताल में ही रहा। उस डॉक्टर की दवाओं के असर की वजह से बच्चा एक बार फिर से स्वस्थ हो गया। एक मायने में उस डॉक्टर ने उस 6 साल के बच्चे को मौत के दरवाज़े से खींचकर सुरक्षित जगह लाया था। बच्चे के शरीर से पीला रंग चले जाने और उसके सामान्य हो जाने से माता-पिता के चेहरे पर भी ग़ज़ब की रौनक थी। बच्चे और उसके माता-पिता की ख़ुशी ने डॉक्टर के मन में एक नये ज़ोश, उत्साह और विश्वास का संचार किया। इसी बच्चे ने आगे चलकर दसवीं और बारहवीं की परीक्षाओं में अच्छे नंबर लाये। वह इंजीनियर बना और उसकी शादी भी हुई। शादी में उसने उस डॉक्टर को भी बुलाया, जिसकी वजह से उसकी जान बची थी। शादी में शिरकत कर डॉक्टर ने उसे बधाई दी और भविष्य के लिए शुभकामनाएँ भी। उस डॉक्टर की ज़िंदगी के हसीन और यादगार पलों में वह लम्हा भी शामिल है, जब उन्होंने उस लड़के को दूल्हे के रूप में ख़ुशहाल देखा था। यहाँ पर हमने जिस डॉक्टर की घटना बतायी है, वे संजीव बगई हैं, वही संजीव बगई, जिन्हें बाल-रोगों के इलाज के क्षेत्र में असाधारण और बेहतरीन काम करने के लिए भारत सरकार ने 'पद्मश्री' पुरस्कार से सम्मानित किया है। नवजात शिशुओं

और बच्चों के इलाज के क्षेत्र में उनके अमूल्य योगदान और उनकी असामान्य सेवाओं के लिए उन्हें डॉ. बी.सी. रॉय अवार्ड से भी नवाज़ा जा चुका है। डॉ. बी.सी. रॉय अवार्ड चिकित्सा के क्षेत्र में दिया जाने वाला सबसे प्रमुख और बड़ा सम्मान है।

डॉ. संजीव बगई ने अपने डॉक्टरी जीवन में अब तक हज़ारों बच्चों का इलाज किया है। एक बेहद ख़ास मुलाक़ात में डॉ. बगई के कहा, "हर डॉक्टर की ज़िंदगी में कुछ ऐसे असाधारण मामले आते हैं, जो उन्हें बहुत कुछ नयी बातें सिखा देते हैं। पीलिया का शिकार 6 साल के उस बच्चे का इलाज मेरे लिए एक असाधारण मामला था। मेरे लिए उस बच्चे का इलाज करना बहुत बड़ी चुनौती थी। लेकिन मैंने उम्मीद नहीं छोड़ी। मैंने इलाज में पूरी सावधानी बरती और नियमित रूप से बच्चे के स्वास्थ्य पर ध्यान दिया।" डॉ. संजीव बगई ने आगे चलकर साथी डॉक्टरों के सहयोग से एक कामयाब ऑपरेशन किया, जिसकी चर्चा दुनिया-भर में हुई। यह ऑपरेशन था जुड़वा और आपस में जुड़ी हुई बच्चियों/बहनों का। सीता-गीता नाम की इन जुड़ी हुई बहनों को अलग करना बहुत ही जटिल काम था। यह काम किसी एक डॉक्टर या सर्जन के बस की बात भी नहीं था। ऊपर से इस ऑपरेशन में जोखिम बहुत था, लड़कियों की जान जाने का ख़तरा भी था। लेकिन डॉ. संजीव बगई ने सीता और गीता के मामले को एक चुनौती के तौर पर लिया और दोनों बहनों को अलग कर चिकित्सा-जगत में नायाब कामयाबी हासिल की और भारत के चिकित्सा-क्षेत्र के इतिहास में एक नया और शानदार अध्याय जोड़ा। बड़ी बात तो यह भी है सीता और गीता के ऑपरेशन से पहले दुनिया-भर में बहुत ही कम, पाँच या छह, ऐसे कामयाब ऑपरेशन किये गये थे, जहाँ आपस में जुड़े हुए बच्चों/शरीरों को अलग किया गया था। भारत में भी इस तरह के ऑपरेशन एक या दो ही हुए थे।

सीता और गीता का मामला भी काफ़ी पेचीदा था। दुनिया-भर में बहुत की कम ऐसे मामले हुए हैं, जहाँ जुड़वा बच्चे आपस में जुड़कर पैदा हुए हैं। एक मायने में ये मामले दुर्लभ से भी दुर्लभ कहे जा सकते हैं। इन दुर्लभ मामलों में सभी मामले ऑपरेशन तक नहीं पहुँच पाते हैं। और जो मामले ऑपरेशन थिएटर तक पहुँचते हैं, वे भी कामयाब होते हैं, ऐसा भी नहीं रहा है। जुड़े हुए बच्चों का ऑपरेशन करना बहुत ही जटिल प्रक्रिया है और अलग-अलग स्पेशलिटी वाले डॉक्टर मिलकर ही इस तरह का ऑपरेशन कर सकते हैं। जहाँ तक सीता और गीता की बात है, उनका जन्म बिहार के एक ग़रीब परिवार में हुआ था। जन्म के समय से ही दोनों बहनें आपस में जुड़ी हुई थीं। इन दोनों बहनों के सिर, हाथ और पैर अलग-अलग

थे, लेकिन वे दोनों कमर के ज़रिये एक-दूसरे से जुड़ी हुई थीं। उनमें मल व मूत्र उत्सर्जन के अंग भी एक ही थे, यानी उनके गुर्दे और स्पाइनल कार्ड भी एक ही थे। सीता और गीता को अलग करवाने के लिए उनके माता-पिता कई सारे अस्पताल गये और कई डॉक्टरों से भी मिले। लेकिन सारे डॉक्टरों ने मामले को काफ़ी पेचीदा बताया और अपने हाथ खड़े कर दिये। माता-पिता ने सीता और गीता के अलग होने की उम्मीदें छोड़ दी थीं। माता-पिता के लिए बड़े दुख और पीड़ा की बात यह थी कि दोनों जुड़वा बहनों की हालत बिगड़ रही थी और कई डॉक्टरों ने कहा था कि अगर दोनों का शरीर अलग नहीं किया गया, तो जल्द ही दोनों की मौत हो जाएगी।

जब दिल्ली में प्रैक्टिस कर रहे बाल-रोग विशेषज्ञ डॉ. संजीव बगई को सीता और गीता के बारे में पता चला, तब उन्होंने एक बड़ा फ़ैसला लिया। फ़ैसला था सीता और गीता के मामले को अपने हाथों में लेना और उन्हें अलग करवाने की कोशिश शुरू करना। काम आसान नहीं था। वे अकेले यह काम नहीं कर सकते थे। उन्होंने अलग-अलग विशेषज्ञों से बातचीत की और उन्हें सीता और गीता के ऑपरेशन में मदद करने को मनाया। तय हुआ कि बत्रा अस्पताल में सीता और गीता को अलग करने के लिए ऑपरेशन किया जाएगा। डॉ. बगई की पहल पर 27 डॉक्टरों की एक टीम बनी, जिसमें न्यूरोलाजिस्ट, ओर्थोपीडिशियन, एनास्थीशियन, जैसे अलग-अलग क्षेत्रों के विशेषज्ञ शामिल थे। चूँकि सीता और गीता का परिवार ग़रीब था और ऑपरेशन के लिए होने वाले भारी भरकम ख़र्च का वहन नहीं कर सकता था, डॉ. संजीव बगई ने सारे डॉक्टरों, तकनीशियनों और दूसरे कर्मियों को बिना कोई फीस लिये सीता और गीता के ऑपरेशन में अपना योगदान देने के लिए भी मनवाया था। तय तारीख़ को 27 डॉक्टरों की टीम ने मिलकर क़रीब 12 घंटे तक डेढ़ साल की नन्ही उम्र वाली सीता और गीता का ऑपरेशन किया। डॉक्टरों की मेहनत का नतीजा भी शानदार रहा। जब सीता और गीता बत्रा अस्पताल पहुँची थीं, तो उनके शरीर के बाहरी हिस्से के अलावा कई अंदरुनी अंग भी जुड़े हुए थे। दोनों को अलग करने के लिए डॉक्टरों को दो अलग-अलग ऑपरेशन करने पड़े थे। पहले ऑपरेशन के ज़रिये दोनों बहनों का शरीर अलग-अलग किया गया। और फिर इसके बाद दोनों के अंदरुनी अंग बनाने के लिए 'रीकंस्ट्रक्टिव' सर्जरी की गयी। डॉक्टरों ने अपनी प्रतिभा, ज्ञान-विज्ञान और क़ाबिलीयत के ज़रिये जुड़ी हुई जुड़वा बहनों को अलग करने में कामयाबी हासिल कर ली। यह कामयाबी कोई मामूली कामयाबी नहीं थी। यह एक नायाब कामयाबी थी, यह एक ऐसी कामयाबी थी, जो भारत के डॉक्टरों की ताक़त को दर्शाती थी। इस कामयाबी की चर्चा दुनिया-भर में हुई और दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में रह रहे जुड़े हुए बच्चों और उनके

माता-पिता के लिए उम्मीद की नयी किरण बनकर उभरी। कई लोगों ने सीता और गीता के कामयाब ऑपरेशन को 'चमत्कार' भी कहा। लेकिन इस बात में कोई दो राय नहीं कि सीता और गीता को डॉ. संजीब बगई की पहल, उनके अथक प्रयास, क़ाबिलीयत और डॉक्टरी अनुभव की वजह से ही नया जीवन मिल पाया।

डॉ. बगई भी जब कभी सीता और गीता के कामयाब ऑपरेशन की याद करते हैं, तो उनके चेहरे पर ख़ुशी और गर्व का भाव साफ़ नज़र आता है। डॉ. बगई के लिए सीता और गीता का कामयाब ऑपरेशन उनकी ज़िंदगी की बड़ी कामयाबियों में से एक ही है। वे इस ऑपरेशन को अपने ज़िंदगी की सबसे बड़ी कामयाबी नहीं मानते हैं। उनके मुताबिक़, छोटी उम्र में ही ऑस्ट्रेलिया के शहर सिडनी में दि प्रिंस ऑफ वेल्स चिल्ड्रेन्स हॉस्पिटल का फ़ेलो बन जाना, उनके अब तक के जीवन की सबसे बड़ी कामयाबी है। 1991-92 में संजीव बगई ने दि प्रिंस ऑफ वेल्स चिल्ड्रेन्स हॉस्पिटल का फ़ेलो बनने का गौरव हासिल किया था और उस समय उनकी उम्र महज़ 26 साल थी। आमतौर पर सिडनी के इस मशहूर अस्पताल का फ़ेलो बनने का गौरव बड़े नामचीन और बेहद अनुभवी डॉक्टरों को ही मिलता है। फ़ेलो बनने के बाद डॉ. संजीव बगई को दि प्रिंस ऑफ़ वेल्स चिल्ड्रेन्स हॉस्पिटल में उस ज़माने के सबसे मशहूर बाल-रोग विशेषज्ञों के साथ काम करने का मौक़ा मिला था। इस अस्पताल में उन्हें बहुत कुछ नया सीखने को मिला और जो अनुभव उन्होंने सिडनी में हासिल किया, उसका फ़ायदा उन्हें आज भी मिल रहा है। डॉ. बगई कहते हैं, "जो डॉक्टर दि प्रिंस ऑफ़ वेल्स चिल्ड्रेन्स हॉस्पिटल में काम कर सकता है, वह दुनिया में किसी भी जगह काम कर सकता है।"

संजीव बगई के डॉक्टर बनने की कहानी भी दिलचस्प है। नौकरीपेशा मध्यमवर्गीय परिवार में जन्मे संजीव ने हमें एक बेहद ख़ास मुलाक़ात में बताया कि बचपन में डॉक्टर बनने के लिए उन पर माता-पिता या फिर किसी और से किसी तरह का कोई दबाव नहीं था। संजीव बगई के पिता सरकारी इकाई हिंदुस्तान पेट्रोलियम के लिए काम किया करते थे। सरकारी नौकरी होने की वजह से पिता का अक्सर एक जगह से दूसरी जगह तबादला होता रहता था। यही वजह थी संजीव को अपने बचपन में ही चंडीगढ़, पुणे, लखनऊ, कोलकाता, मुंबई जैसे शहरों में रहने का मौक़ा मिला था। ज़्यादातर समय शहरी माहौल में रहे और पले-बढ़े संजीव शुरू से ही पढ़ाई-लिखाई में तेज़ थे। जूनियर कॉलेज में उन्होंने मैथ्स, फिज़िक्स और केमिस्ट्री के अलावा बायोलॉजी को भी अपना मुख्य विषय बनाया था, ताकि इंजीनियर या डॉक्टर बनने

का विकल्प खुला रहे। जूनियर कॉलेज की परीक्षा में अच्छे नंबरों की वजह संजीव को इंजीनियरिंग कॉलेज और मेडिकल कॉलेज दोनों में सीट मिल रही थी, लेकिन संजीव ने डॉक्टर बनने का फ़ैसला किया। डॉक्टर बनने का फ़ैसला उनका अपना ख़ुद का था। संजीव बगई ने बताया, "ग्यारहवीं की पढ़ाई के दौरान ही डॉक्टर का ख़्याल अपने आप आ गया था। वैसे भी जब मैं जूनियर कॉलेज में था, उस समय करियर काउंसलिंग जैसी कोई चीज़ नहीं थी और अगर थी तब भी मुझे उसके बारे में मालूम नहीं था। जूनियर कॉलेज के बाद मेरे पास दोनों विकल्प थे - डॉक्टर बनने का भी और इंजीनियर बनने का भी। मैंने डॉक्टर बनना पसंद किया और फिर कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा।" संजीव का दाख़िला मुंबई में सेठ गोवर्धनदास सुंदरदास मेडिकल कॉलेज, जो कि जी.एस. मेडिकल कॉलेज के नाम से मशहूर था, में हुआ। जी.एस. मेडिकल कॉलेज भारत ही नहीं, बल्कि पूरे एशिया महाद्वीप के सबसे पुराने मेडिकल कॉलेजों में एक है और इसकी स्थापना आज़ादी से पहले साल 1926 में हुई थी। स्थापना से आजतक भी इस मेडिकल कॉलेज में डॉक्टरी की पढ़ाई के लिए सीट हासिल करने को बड़ी कामयाबी और प्रतिष्ठा का विषय माना जाता है। एमबीबीएस की पढ़ाई के अपने दिनों की यादों को ताज़ा करते हुए संजीव ने बताया, "मेडिकल कॉलेज के वे साढ़े पाँच साल काफ़ी मज़ेदार थे। ज़िंदगी के सबसे ख़ूबसूरत दिन मैंने मेडिकल कॉलेज में ही बिताये। उन दिनों मेरी सिर्फ़ तीन प्राथमिकताएँ थीं। पहली - पढ़ाई-लिखाई, दूसरी - क्रिकेट और तीसरी - सेहतमंद खाना खाना और अच्छी सेहत बनाये रखना। मुझे इस बात की ख़ुशी है कि मैंने ये तीनों काम अच्छे से किये। मैंने अच्छे से पढ़ाई की, कोई लापरवाही नहीं बरती और इसी वजह से कोई बैकलॉग कभी नहीं रही। कॉलेज में सभी लोग मुझे पसंद करते थे और मैं भी सभी को चाहता था। सभी एक-दूसरे को पसंद करते थे। मुझे क्रिकेट खेलने का बहुत शौक़ था और मैंने पेशेवर क्रिकेट खेली। एक तरफ़ पढ़ाई थी और दूसरी तरफ़ क्रिकेट का शौक़, दोनों काम पूरा करने के लिए सेहतमंद रहना ज़रूरी था और मैंने हमेशा अच्छा भोजन किया और स्वस्थ रहा। बहुत ही प्यारे दिन थे वे।"

संजीव बगई को शुरू से ही बच्चों से प्यार था। बच्चे हमेशा उनकी आकर्षण का केंद्र रहे। संजीव को बच्चों, ख़ास तौर पर नवजात शिशुओं, से जुड़ी एक बात बहुत ही चुनौती-भरी लगती थी। छोटे बच्चे जो बोलना नहीं जानते और ये बता नहीं सकते कि उन्हें कहाँ, कैसी और कब से तकलीफ़ है, उन नन्हे बेज़ुबान बच्चों की तकलीफ़ का पता लगाना और उस तकलीफ़ को दूर करने को वे बहुत बड़ी चुनौती मानते थे। इसी चुनौती को संजीव ने अपनी ज़िंदगी का हिस्सा बना लेने की ठान ली। एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान बच्चों का वार्ड ही उनकी सबसे पसंदीदा जगह

थी। नवजात शिशुओं, नन्हे-नन्हे बच्चों को अपने हाथों में लेकर उनका परीक्षण करने, बीमारी का पता लगाने और उनका इलाज करने में संजीव को मज़ा आने लगा। एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान ही उन्होंने बच्चों का डॉक्टर बनने का मन बना लिया था। जब आगे चलकर संजीव ने एमडी की पढ़ाई के दौरान बाल-रोगों को अपना मुख्य विषय बनाया, तब उस समय के बाल-रोग निवारण विभाग के मुखिया के प्रभाव में उनका मुख्य विषय पीडियाट्रिक नेफ्रोलॉजी बन गया। यानी संजीव बगई बच्चों के डॉक्टर तो बने ही, वे बच्चों में गुर्दों और मूत्र उत्सर्जन के अंगों के विशेषज्ञ भी बन गये। संजीव बगई ने बताया, "मुंबई में एमडी की पढ़ाई के दौरान ऐसे कई मामले आते थे, जहाँ बच्चों की किडनी ने काम करना बंद कर दिया होता। अस्पताल ऐसे ही बच्चों से भरा रहता था। हमें बच्चों के इलाज में दिन-रात मेहनत करनी पड़ती थी। हमारे डिपार्टमेंट के हेड पीडियाट्रिक नेफ्रोलोजिस्ट थे और उनके प्रभाव में मैं भी पीडियाट्रिक नेफ्रोलोजिस्ट बन गया।"

डॉ. बगई पिछले कई सालों से बच्चों का इलाज कर रहे हैं। हर दिन वे बच्चों का परीक्षण करते हैं, बीमारी का पता लगाते हैं और अपनी दवाइयों/इलाज से बीमारी को दूर भगाते हैं। जब बीमार बच्चा उनके इलाज से ठीक हो जाता है, तब उन्हें बहुत ख़ुशी होती है। लेकिन जब वे किसी बच्चे की जान नहीं बचा पाते, तब उन्हें बहुत दुख भी होता है। वे कहते हैं, "कई बार ऐसा होता है कि बहुत देरी कर देने के बाद माता-पिता अपने बीमार बच्चों को उनके पास इलाज के लिए लाते हैं। कई बार तो देरी इतनी ज़्यादा हो जाती है कि बच्चे की जान नहीं बचायी जा सकती, क्योंकि उसकी हालत इतनी बिगड़ जाती है कि सुधरने लायक़ ही नहीं रहती। फिर भी हम बच्चे की जान बचाने और उसकी बीमारी दूर करने के लिए अपनी ओर से पूरी कोशिश करते हैं।" डॉ. बगई यह भी कहते हैं कि डॉक्टरी के पेशे में ही सबसे ज़्यादा मेहनत लगती है। किसी दूसरे पेशेवर काम में उतना समय नहीं लगता जितना कि एक डॉक्टर को अपने मरीज़ों के इलाज में लगाना पड़ता है। बच्चों की बीमारी के बड़े जानकार डॉ. बगई के शब्दों में, "डॉक्टर बनना आसान नहीं है। मेडिकल कॉलेज में दाख़िला हासिल करने के लिए ख़ूब मेहनत करनी पड़ती है। मेडिकल कॉलेज में सीट मिल जाने के बाद क़रीब साढ़े पाँच साल एमबीबीएस की पढ़ाई पूरी कर डिग्री लेने में लग जाते हैं। इसके बाद स्पेशलाइज़ेशन में ढ़ाई-तीन साल लग जाते हैं। फिर अनुभव के लिए आपको किसी अस्पताल में काम करना पड़ता है। एक डॉक्टर के तौर पर परिपक्व और अनुभवी बनते-बनते उम्र तीस साल की हो जाती है। और जब डॉक्टर परिपक्व बनकर प्रैक्टिस करना शुरू करता है, तब उसका ज़्यादातर समय लोगों के इलाज में ही बीतने लगता है।"

बड़ी बात यह भी है कि संजीव बगई ख़ुद बहुत ही व्यस्त डॉक्टर हैं। सुबह से लेकर रात तक मरीज़ों के उनके पास इलाज के लिए आने का सिलसिला चलता ही रहता है। चूँकि वे काफ़ी लोकप्रिय और प्रसिद्ध हैं, लोग दूर-दूर से अपने बीमार बच्चों का इलाज करवाने के लिए उनके पास आते हैं। जब हमने उनसे यह पूछा कि वे डॉक्टर के तौर पर अपनी सारी व्यस्ताओं के बावजूद अपने घर-परिवार के लिए समय कैसे निकाल लेते हैं, तब डॉ. बगई ने कहा, "हर एक की ज़िंदगी में टाइम मैनेजमेंट और अनुशासन बहुत ही ज़रूरी है। मैंने हर काम ने लिए अपना समय निर्धारित किया हुआ है। मैं अपने दिन की शुरूआत जल्दी कर लेता हूँ। मैं अपने ज़्यादातर काम दोपहर से पहले ही पूरा करने की कोशिश करता हूँ। अस्पताल में भर्ती मरीज़ों को देखने के लिए राउंड्स लगाने होते हैं। ओपीडी के मरीज़ों को भी देखना होता है। मुझ पर अपने उम्रदराज़ माता-पिता की भी ज़िम्मेदारी है। परिवार और बच्चों के लिए भी समय निकालना होता है। सभी के साथ इंसाफ़ कर सकूँ, यह तभी मुमकिन है, जब मैं समय का सही इस्तेमाल करूँ। मेरे लिए सभी के लिए माकूल समय निकलना, ज़िंदगी में सभी कामों के लिए बैलेंस बनाना मुश्किल है, लेकिन नामुमकिन नहीं। मैं हर काम में आनंद लेता हूँ।"

हमने ख़ुद देखा है कि डॉ. संजीव बगई समय और अनुशासन के मामले में बहुत ही पाबंद हैं। हक़ीक़त तो यह है कि अनुशासन को लेकर वे बहुत ही सख़्त हैं। कामकाज के मामले में ढ़िलायी और समय को ज़ाया करना उन्हें सख़्त नापसंद है। ज़िंदगी में अनुशासन को हमेशा से बनाये रखने की वजह से ही वे पूरी मज़बूती और विश्वास के साथ अपने मरीज़ों को भी अनुशासनबद्ध जीवन-जीने की सीख देते हैं। जैसा उनका आचरण-व्यवहार है, वैसा ही करने की वे सीख भी लोगों को देते हैं, और यही उनकी सबसे बड़ी ख़ूबी भी है।

डॉ. बगई ने अपने जीवन में कई सारी असाधारण कामयाबियों हासिल की हैं। बड़े-बड़े डॉक्टर, वैज्ञानिक, कई नामचीन हस्तियाँ भी उनकी मुरीद हैं। बच्चों की बीमारियों और उनके इलाज के वे बहुत बड़े जानकार के रूप में दुनिया-भर में मशहूर हैं। अलग-अलग संस्थाएँ उन्हें अपना ज्ञान और अनुभव लोगों के साथ बाँटने के लिए गोष्ठियों का आयोजन करती रहती हैं। उनके कई सारे शोध-पत्र और लेख देश और दुनिया की बड़े-बड़ी पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। चिकित्सा-जगत में उनकी अपनी बेहद ख़ास पहचान है। डॉ. संजीव बगई की कामयाबी की कहानी भी मेहनत, लगन, निष्ठा और अनुशासन की एक अद्भुत मिसाल है। वे कई लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत हैं। जीवन में कामयाबी की बाबत पूछे गये सवालों के जवाब

में उन्होंने कहा, "हर कोई अपनी क़िस्मत ख़ुद बनाता है। हर कोई अपनी कहानी ख़ुद लिखता है। हज़ारों ऐसे लोग होंगे, जिनकी कामयाबियों मुझसे बड़ी होंगी, जिनका जीवन मेरे जीवन से ज़्यादा उज्जवल होगा। मैं बहुत ही विनम्र परिवार से हूँ। जब मैं 1990 में दिल्ली आया था, तब मेरे पास सिर्फ़ छह हज़ार रुपये थे, लेकिन मैंने मेहनत की और करता ही रहा। अगर कोई मुझसे ये पूछे कि कामयाबी कैसे मिलती है, तो मैं यही कहूँगा कि इरादा पक्का होना चाहिए। कामयाबी के लिए मेहनत भी बहुत ज़रूरी है। इंसान को अपने मन से हार का डर भी मिटाना चाहिए, चुनौतियाँ आती रहेंगी, डटकर उनका मुक़ाबला करना चाहिए, न कि पीछे हटना। ज़िंदगी लम्बी है, कामयाबी हासिल करने की कोशिश जारी रहनी चाहिए।"

वैसे तो डॉ. संजीव बगई की कई सारी ख़ूबियाँ हैं, लेकिन उनकी एक बड़ी ख़ूबी यह है कि वे हर काम को गंभीरता से लेते हैं। बच्चों का इलाज हो या फिर अपना कोई शौक़ पूरा करना, वे हर काम पूरी संजीदगी के साथ करते हैं। और एक दिलचस्प बात, जो लोग संजीव बगई के बारे में नहीं जानते है और उन्हें पहली बार देखते हैं, ऐसे लोगों में ज़्यादातर लोगों को पहली नज़र में यही लगता है कि वे सेना के अफ़सर हैं। एक तो उनकी मूछें हमेशा सेना के किसी बड़े और रौबदार अफ़सर की तरह तनी हुई होती हैं और दूसरे उनकी वाणी भी उनके स्वभाव की तरह ही गंभीर है। वसंत विहार की उनकी क्लिनिक में हुई एक बेहद ख़ास मुलाक़ात में डॉ. संजीव बगई ने हमें वह राज़ भी बताया कि कैसे वे आख़िर नवजात शिशुओं और शब्दों के ज़रिये अभियक्त न कर पाने वाले नन्हे बच्चों की तकलीफ़ को आसानी से पहचान लेते हैं। डॉ. संजीव बगई के मुताबिक़, तीन चरण हैं, जिससे वे छोटे बच्चों की तकलीफ़ का पता लगा लेते हैं। पहला - बहुत की सूक्ष्मता से बच्चे का निरीक्षण करना। दूसरा - बच्चों के माता-पिता से उनके पूर्व की गतिविधियों, हरकतों, लक्षणों आदि के बारे में जानना और तीसरा - गहराई से बच्चे का परीक्षण करना। अगर ये तीन काम ठीक तरह से किये जाएँ, तब डॉक्टर बच्चे की तकलीफ़ों का आसानी से पता लगा सकता है। डॉ. बगई ने अपने अब तक के डॉक्टरी सफ़र में कई बड़े अस्पतालों में अपनी सेवाएँ दी हैं। वे इन्द्रप्रस्थ अपोलो अस्पताल और बत्रा अस्पताल से भी जुड़े रहे हैं। रॉकलैंड से उनका संबंध पुराना है। वे नेफ्रॉन क्लिनिक एंड हेल्थ केयर के चेयरमैन एंड मैनेजिंग डायरेक्टर भी हैं। एक मेडिकल ऐड्मिनिस्ट्रेटर के रूप में भी उन्होंने ख़ूब नाम कमाया है। इन दिनों वे दिल्ली में मनिपाल सुपर स्पेशलिटी हॉस्पिटल को देश के बेहतरीन अस्पतालों में से एक बनाने में जुटे हुए हैं। डॉ. संजीव बगई प्रोफ़ेसर हैं, एक उम्दा और अनुभवी शिक्षक भी। वे अलग-अलग मेडिकल कॉलेजों में डॉक्टरी की पढ़ाई कर रहे विद्यार्थियों के बीच अपना ज्ञान और अनुभव भी बाँट रहे हैं।

बचपन से ही दिल बड़ा रहा है 20 हज़ार से ज़्यादा दिल के ऑपरेशन कर चुके डॉक्टर विजय दीक्षित का

डॉ. विजय दीक्षित भारत के ही नहीं, बल्कि दुनिया के सबसे मशहूर हृदय-रोग विशेषज्ञों में से एक हैं। उन्होंने अपने डॉक्टरी जीवन में कई जटिल ऑपरेशन किये और कामयाब रहे। दिल के ऑपरेशनों में उनकी सक्सेस-रेट भी बेहद शानदार और ग़ज़ब की है। जिस सफाई से वे ऑपरेशन कर मरीज़ों का इलाज करते हैं, उसे देखकर कई लोग उनके मुरीद बन गये हैं। कुछ मरीज़ उन्हें फरिश्ता कहते हैं, तो कुछ उन्हें जान बचाने वाला भगवान मानते हैं। डॉ. विजय दीक्षित अब तक बीस हज़ार से ज़्यादा दिल के ऑपरेशन कर चुके हैं, लेकिन वे बीस हज़ार को महज़ एक आंकड़ा मानते हैं। हैदराबाद के अपोलो अस्पताल में उनके कक्ष में हुई एक अंतरंग बातचीत में विजय दीक्षित ने कहा, "बीस हज़ार वगैरह तो बस नंबर हैं। आप काम करते रहेंगे, तो नंबर बढ़ते रहेंगे। मैं इसे कोई बड़ी बात नहीं मानता। जब तक मुझ में शक्ति है, क़ाबिलीयत है और मेरे हाथ-पाँव चलते रहेंगे, मैं काम करता रहूँगा। नंबर के लिए थोड़े ही करते हैं ऑपरेशन, काम करते रहते हैं तो नंबर हो जाते हैं।"

विजय दीक्षित उन खास शख़्सियतों में से हैं, जिनसे एक बार बातचीत करने से ही यह पता चल जाता है कि जैसा उनका काम है, वैसा ही उनका दिल भी है। काम और दिल दोनों बड़े हैं और शानदार भी। जैसा सोचते हैं, वैसा ही बोलते हैं। काम और दिल जितना साफ़ है, बोल भी उतने ही साफ़। लोग उन्हें फरिश्ता कहते हैं, भगवान मानते हैं, उन्हें जान बचाने वाला डॉक्टर कहते हैं, लेकिन विजय दीक्षित ख़ुद को ऐसा कुछ नहीं समझते। वे कहते हैं, "जान मैं क्या बचा सकता हूँ? मैं न

जान देने वाला हूँ, न लेने वाला। लोगों का स्वास्थ्य अच्छा रहे, कम से कम दिल के मामले में, मैं कुछ मदद कर सकता हूँ, तो करता हूँ। ये तो मरीज़ मानते हैं कि मैं जान बचाता हूँ। आजकल के मरीज़ डॉक्टर के प्रति इतने शुक्रगुज़ार हैं कि वे इस तरह की बातें कहते हैं और दूसरे लोग इन बातों को मानते भी हैं।"

अपने दिलकश अंदाज़ में दीक्षित ने यह भी कहा, "आप ही सोचिए, हम अपनी जान बचा सकते हैं क्या? हममें इतनी ताक़त थोड़े ही है? हम न जान दे सकते हैं, न ले सकते हैं। हाँ, मैं अपनी पढ़ाई और अनुभव की वजह से लोगों का स्वास्थ्य ठीक कर सकता हूँ, और यही करता भी हूँ।" चिकित्सा-क्षेत्र की इस बड़ी शख़्सियत से हमने यह सवाल भी किया कि दिल को स्वस्थ रखने के लिए क्या करना ज़रूरी हैं? इस सवाल के जवाब में विजय दीक्षित ने कहा, "अपने दिल की सुनो। जो करना चाहते हो, वह करो। मैंने देखा है कि वही लोग दिल की बीमारी पालते हैं, जो वह काम करते हैं, जिसमें उनका मन नहीं होता। स्ट्रेस की वजह से दिल की बीमारियाँ होती हैं। स्ट्रेस का मतलब सिर्फ़ परेशानी नहीं है। वह काम करना भी है, जिसमें मन नहीं है।"

सलाह देते हुए विजय दीक्षित ने आगे कहा, "यह हमेशा संभव नहीं है कि आपको वह ही काम करने का मौक़ा मिले, जिसमें आपका मन है। ऐसी हालत में आपको यह समझ लेना चाहिए कि आपको इसी काम के लिए बनाया गया है। आप जब अपने काम को एन्जॉय करेंगे, तभी आपका हार्ट भी हेल्थी रहेगा।"

जब हमने विजय दीक्षित से यह पूछा कि उनके लिए कामयाबी के मायने क्या हैं? इसका जवाब विजय दीक्षित ने दार्शनिक अंदाज़ में दिया। उन्होंने कहा, "मैं तो नहीं जानता कि मैं कामयाब हूँ या नहीं। अगर आप अपने आप को कामयाब समझते हैं, तो आप कामयाब हैं। मैंने बहुत सारी चीज़ें सोची होंगी ज़िंदगी में, लेकिन मैं नहीं कर पाया। ऐसे में मैं क्या यह मान लूँ कि मैं नाकामयाब रहा हूँ। अगर आप उस काम से संतुष्ट हैं, जो आप कर रहे हैं, तो यह भी कामयाबी है। जैसे-जैसे अनुभव बढ़ता है, वैसे-वैसे संतुष्टि बढ़े तो बड़ी कामयाबी है। हाँ, मेडिकल फील्ड में दूसरों की तुलना में मैंने बहुत कुछ हासिल किया है।"

मरीज़ों के इलाज में जीवन समर्पित कर चुके विजय दीक्षित के मन में सेवा-भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। बचपन में पिता की बातों का उनके दिल और दिमाग़ पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा था। एक मायने में सेवा-भाव की वजह से ही विजय दीक्षित डॉक्टर भी बने थे। विजय दीक्षित ने बचपन में ही यह सोच लिया था कि बड़े होकर उन्हें डॉक्टर बनना है। वे बस डॉक्टर ही बनना चाहते थे और

कुछ नहीं। उनके पिता आईपीएस अधिकारी थे और उन्हें उत्तरप्रदेश में अलग-अलग जगह ऊँचे ओहदे पर काम करने का मौक़ा मिला था। चूँकि पुलिस अधिकारी थे, तबादले होते रहते थे। यही वजह थी कि विजय दीक्षित की पढ़ाई भी अलग-अलग जगह हुई, लेकिन उनका ज़्यादातर समय लखनऊ और वाराणसी में ही बीता।

विजय दीक्षित ने बताया, "मेरे पिता चाहते थे कि मैं ऐसा कोई टैलेंट रखूँ, जो मेरे हाथ में हो। वे चाहते थे कि मैं अपने टैलेंट से दूसरों की मदद कर सकूँ।" पिता की इन्हीं बातों का विजय दीक्षित पर बहुत प्रभाव पड़ा। वैसे तो उनके घर-परिवार में कई सारे लोग सरकारी नौकरी करते थे, लेकिन पिता के दिये संस्कारों की वजह से उन्होंने डॉक्टर बनने और लोगों की मदद करने की सोची।

वैसे भी बचपन से ही विजय दीक्षित का स्वभाव दूसरे बच्चों से अलग था। बचपन से ही वे दूसरों की मदद करने लगे थे। ग़रीब बच्चों को वे कभी चॉकलेट देते तो, कभी उन्हें आइसक्रीम खिलवा देते। और भी अलग-अलग तरह से उन्होंने अपने हमउम्र बच्चों की मदद की थी। दूसरों की मदद करना उनकी आदत-सी बन गयी थी। कुछ लोग उनसे यह कहते भी थे कि उन्हें उन बच्चों के साथ नहीं उठना-बैठना चाहिए, जिनका सामाजिक स्तर छोटा है, लेकिन संस्कार ऐसे थे कि विजय दीक्षित पर इस तरह की आपत्तियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

चूँकि डॉक्टर बनने का इरादा मज़बूत था, विजय दीक्षित ने मेडिकल कॉलेज की प्रवेश परीक्षा के लिए जमकर तैयारी की थी। उन दिनों की यादें ताज़ा करते हुए विजय दीक्षित ने अपने ख़ास अंदाज़ में, चेहरे पर चिर-परिचित मुस्कान के साथ कहा, "डॉक्टर बनना इतना मुश्किल भी नहीं है। मगर उस दौर में भी कॉम्पिटिशन होता था। जब मैंने परीक्षा लिखी, तब 700 सीटें थीं और 35 हज़ार उम्मीदवार। परीक्षा में मेरा रैंक तेरहवाँ था। चूँकि उन दिनों लखनऊ मेडिकल कॉलेज बेस्ट माना जाता था, मैंने वहीं दाख़िला लिया। मैं शुरू से चाहता था कि डॉक्टर बनूँ। डॉक्टर बनने के लिए पढ़ाई तो करनी पड़ती है। मैंने भी उन दिनों दिन-रात पढ़ाई की।"

विजय दीक्षित ने लखनऊ के किंग जॉर्ज मेडिकल कॉलेज में एमबीबीएस की अपनी पढ़ाई के दिनों के बारे में भी हमें बताया। उन्होंने कहा, "उस वक़्त की पढ़ाई के बारे में सोचने पर अब मज़ा आता है। आज-कल के बच्चे शायद ही उसे समझ पाएँगे। उन दिनों बहुत ज़्यादा पढ़ाई करनी पढ़ती थी। पढ़ाई का बहुत ज़्यादा बोझ रहता था। हर हफ़्ते टेस्ट होते थे। दिन-रात, सोना-जागना इन सब का कोई मतलब नहीं था। स्टूडेंट डेज़ में हम सुबह से लेकर रात 8 बजे तक अस्पताल में ही रहते थे। पढ़ाई के सिवाय और किसी के बारे में सोचने का समय ही नहीं मिलता था।"

विजय दीक्षित ने आगे कहा, "इस बात का डर भी रहता था कि कहीं फेल न हो जाऊँ। पेरेंट्स मुझे बहुत सपोर्ट कर रहे थे। पेरेंट्स मुझसे बड़ी उम्मीदें रखते थे। उनकी उम्मीदों पर खरा उतरने का प्रेशर भी रहता था। उन दिनों फेल होना कॉमन था। एंट्रेंस एग्जाम पास करके कई अच्छे लड़के मेडिकल कॉलेज में आते थे, मगर आधे बच्चे किसी न किसी सब्जेक्ट में फेल हो जाते थे।"

विजय दीक्षित की मेहनत इतनी तगड़ी थी कि वे कभी फेल नहीं हुए। इरादे नेक थे, हौसले बुलंद, कामयाबी उन्हें मिलती गयी। एमबीबीएस पढ़ाई की ट्रेनिंग के दौरान वे दिल के ऑपरेशन की ओर आकर्षित हुए। इतना आकर्षित हुए कि इस बात को मन में गाँठ बाँधकर बिठा लिया कि उन्हें दिल का डॉक्टर ही बनना है। जब उन्होंने दिल का डॉक्टर बनने के अपने इरादे के बारे में पिता और दूसरे लोगों को बताया, तो सभी हैरान हुए। सभी ने हतोत्साहित करने वाले शब्द कहे। विजय दीक्षित ने बताया, "बहुत लोगों ने कहा - ये कौन-सी लाइन ले रहे हो? कहाँ, क्या कर पाओगे? सीनियर्स भी कुछ इसी तरह के सवाल करते थे। पिता ने भी एक बार कहा था - बस आर्डिनरी डॉक्टर बन जाओ, यही काफ़ी है, ये दिल-विल की सर्जरी कहाँ करोगे।" लेकिन विजय दीक्षित का इरादा पक्का था। विश्वास मज़बूत हो चुका था। उन्होंने ठान लिया था। विजय दीक्षित ने कहा, "एक पागलपन था। जुनून सवार था मुझ पर। मैंने सोच लिया था कि मुझे बस यही करना है और मैंने वही किया भी।"

विजय दीक्षित का जुनून देखकर पिता ने बड़े प्यार से कहा था - तुम्हें जो करना है, वह करो। हम पूरी मदद करेंगे। जिन दिनों विजय दीक्षित ने दिल का डॉक्टर/सर्जन बनने का फ़ैसला लिया था, उन दिनों यानी सत्तर के दशक में भारत में दिल के ऑपरेशन बहुत ही कम हुआ करते थे। सिर्फ़ दो ही अस्पतालों में दिल के ऑपरेशन होते थे। बहुत ही कम डॉक्टर दिल के ऑपरेशन की ट्रेनिंग भी लेते थे। ऐसे में स्वाभाविक ही था कि लोगों का विजय दीक्षित के फ़ैसले पर हैरानी जताना।

विजय दीक्षित ने सर्जन बनने का फ़ैसला तो ले लिया था, लेकिन इस बात पर विश्वास नहीं था कि वे सर्जन बन पाएँगे या नहीं, लेकिन इसी बीच एक घटना हुई, जिससे विजय दीक्षित को यह विश्वास हो गया कि वे भी सर्जन बन सकते हैं। हुआ यूँ था कि जूनियर डॉक्टर के तौर पर विजय दीक्षित को एक गाँव भेजा गया था। उनकी इंटर्नशिप चल रही थी। ताज़ा एमबीबीएस थे। जब वे गाँव में थे, तब एक महिला बुरी तरह से ज़ख़्मी अपने बेटे को इलाज के लिए विजय दीक्षित के पास लेकर आयी। बच्चा चलती ट्रेन से गिर गया था। बच्चे का मुँह एक सिरे

से दूसरे सिरे तक कट चुका था। बच्चे की हालत बहुत ख़राब थी। वह अधमरा-सा था। गाँव में या उसके आसपास विजय दीक्षित के अलावा कोई भी डॉक्टर नहीं था। बच्चे की जान बचाने के लिए उसका ऑपरेशन करना ज़रूरी था। विजय दीक्षित ने फ़ैसला लिया कि वे उस बच्चे का ऑपरेशन करेंगे। उन्होंने बच्चे का ऑपरेशन किया। ऑपरेशन कामयाब हुआ। कुछ ही दिनों में बच्चा ठीक भी हो गया।

सबसे बड़ी बात तो यह थी कि विजय दीक्षित का यह पहला ऑपरेशन था। रेल हादसे में घायल बच्चे की जान बचाने के लिए किये गये इस पहले ऑपरेशन की वजह से विजय दीक्षित को बहुत फ़ायदा हुआ। उनके मन में विश्वास जागा कि वे भी सर्जन बन सकते हैं। विजय दीक्षित ने बताया कि अपना पहला ऑपरेशन करने से पहले वे कई बार अपने सीनियर्स को ऑपरेशन करते हुए देख चुके थे। दूसरों को ऑपरेशन करता हुआ देखकर उनके मन में भी इच्छा जगी थी सर्जन बनने की, लेकिन वह विश्वास नहीं मिल रहा था, जो सर्जन बनने के लिए उन्हें चाहिए था। विजय दीक्षित कहते हैं, "सर्जरी करने के लिए कॉन्फिडेंस बहुत ज़रूरी है। आप मरीज़ के अंगों को काटते हैं, फिर सिलते हैं। एक मायने में मरीज़ की जान आपके हाथों में होती है। इसीलिए सर्जरी करने से पहले डॉक्टर में विश्वास का होना बहुत ज़रूरी है।" गाँव में उस घायल बच्चे पर किये ऑपरेशन से विजय दीक्षित का मन विश्वास से भर गया। शंका दूर हुई थी, भविष्य का रास्ता साफ़ हुआ था।

दिल के ऑपेरशन करने में महारत हासिल कर चुके इस डॉक्टर ने यह भी कहा, "ऑपरेशन में अलग-अलग चरण होते हैं। हर ऑपरेशन में कुछ चरण चुनौतियों से भरे होते हैं। हर ऑपरेशन एक चैलेंज होता है। मैं अपने आप को यह चैलेंज देते रहता हूँ कि अगले ऑपरेशन को बेहतर करना है। पिछले सालों में नयी-नयी तकनीकें आयी हैं। इन तकनीकों को अडॉप्ट करते हुए भी हम आगे बढ़े हैं।"

क़रीब चार दशकों के अपने डॉक्टरी जीवन में विजय दीक्षित चिकित्सा-क्षेत्र में आयी हर बड़ी क्रांति और हर नये सकारात्मक परिवर्तन के गवाह रहे हैं। उनके मुताबिक़, हृदय की बीमारियों के इलाज के मामले में जो सबसे बड़ा बदलाव आया है, वह लोगों का इलाज के प्रति बढ़ा विश्वास है। विजय दीक्षित बताते हैं, "जब मैंने ऑपरेशन करने शुरू किये थे, तब लोगों को उतना भरोसा नहीं था, जितना कि अब है। टेक्नोलॉजी ने हमारी बहुत मदद की है। काम आसान किया है। अब हम ये जान गये हैं कि क्या करना है और क्या नहीं। अब डॉक्टरों को उनकी सीमाएँ भी मालूम हैं।"

बचपन में घर के चूल्हे की आग से निकलती रोशनी में पढ़ाई करने वाले मूर्ति अब सर्जिकल लाइट में बच्चों की बीमारियों को कर रहे हैं दूर

एक गाँव है, उसमें एक किसान का घर है। जैसा कि हर छोटे और ग़रीब किसान का घर होता है, वैसा ही उस किसान का भी घर है। पत्थरों के ऊबड़-खाबड़ टुकड़ों से बनी दीवारें हैं और मिट्टी से बनी और सनी छत। न बिजली है, न पानी का नल। घर में मिट्टी का ही चूल्हा है। छोटे से इस घर में पूरा परिवार रहता है। किसान, उसकी पत्नी, चार बच्चे - एक लड़का और तीन लडकियाँ। सभी इसी घर में रहते हैं। किसान की आमदनी का ज़रिया भी एक ही है - खेत। खेत में अच्छी फ़सल हुई तो आमदनी, नहीं तो दूसरों के यहाँ मज़दूरी करने की मजबूरी। चूँकि किसान ग़रीब है और अकेले छह लोगों का पेट भर नहीं सकता, खेती के काम में सभी उसकी मदद करते हैं। बच्चे भी अपने नन्हे हाथों से जो कर पाते हैं, वह करते हैं। एक दिन किसान को एहसास होता है कि अगर उसका बच्चा भी उसी की तरह अनपढ़ रहा, तो वह भी ग़रीब ही रहेगा और परेशानियाँ उसे घेरे रहेंगी। किसान एक बड़ा फ़ैसला करता है। वह अपने बच्चे को स्कूल भेजता है। बच्चा स्कूल में अच्छे से पढ़े, इसके लिए वह अपनी पत्नी के साथ दिन-रात मेहनत करता है। अपने खेत में तो काम करता ही है, आमदनी कुछ ज़्यादा हो जाय और बच्चे की स्कूल की ज़रूरतें पूरी हो जाएँ, इस मक़सद से दूसरों के यहाँ मज़दूरी भी करता है। माँ-बाप की तकलीफ़ों को देखकर बच्चा पढ़ाई में जी-जान लगा देता है। घर में बिजली नहीं है, तब भी रात के अँधेरे में भी बच्चे की पढ़ाई नहीं रुकती। बच्चा कंदील की रोशनी में पढ़ता है। और तो और, जब माँ चूल्हे पर खाना बना रही होती है, तब बच्चा लकड़ियों के

जलने पर निकलने वाली आग की रोशनी में पढ़ाई करता है, ताकि कंदील का तेल बच सके। यही बच्चा बड़ा होकर एक डॉक्टर बनता है। मशहूर सर्जन हो जाता है। समाज में उसका ख़ूब नाम होता। दुनिया उसको सलाम करती है।

यहाँ तक पढ़कर शायद आपको यह लगा होगा कि यह किसी फ़िल्म की कहानी का हिस्सा है। शायद लगा होगा कि किसी टीवी सीरियल की कहानी का सारांश है। किसी को शायद यह भी लगे कि यह किसी रचनाकार की कल्पना है, किसी कल्पित कहानी का एक हिस्सा है। लेकिन ये बातें न फ़िल्मी हैं, न कल्पना। यह हक़ीक़त में एक शख़्सियत की ज़िंदगी की कहानी है। कहानी रोचक है, सबसे जुदा है और प्रेरणा देने की श्रमता रखने वाली है। यह सच्ची कहानी है डॉ. पीवीएलएन मूर्ति की।

उनकी कहानी शुरू होती है दक्षिण भारत के बड़े शहर हैदराबाद से क़रीब साढ़े तीन सौ किलोमीटर दूर एक गाँव में। वही गाँव जहाँ मूर्ति का जन्म हुआ। मूर्ति का जन्म अविभाजित आंध्रप्रदेश के कर्नूल ज़िले के आल्लगड्डा में हुआ। मूर्ति अपने माता-पिता पंचर्ला पेद्दा दस्तगीरय्या और नागम्मा की पहली संतान हैं। मूर्ति के बाद दस्तगीरय्या और नागम्मा को तीन बेटियाँ हुईं। पिता किसान थे और उनके पास पाँच एकड़ उपजाऊ ज़मीन थी। ख़ेत ही कमाई का एक मात्र ज़रिया थे। माता-पिता दोनों अशिक्षित थे, लेकिन उन्होंने अपनी सभी संतानों को ख़ूब पढ़ाने-लिखाने की ठानी। मूर्ति को आलगड्डा के भारतीय विद्या मन्दिरम् स्कूल में भर्ती कराया गया। अपने ख़ुद के खेतों से आमदनी इतनी नहीं थी, जिससे बच्चे की पढ़ाई का ख़र्चा भी निकल पाता। बेटे मूर्ति की पढ़ाई जारी रहे और उसे कोई दिक़्क़त न आये, इस वजह से दस्तगीरय्या और नागम्मा ने दूसरों के खेतों में जाकर मज़दूरी करना शुरू किया। मूर्ति छोटे थे, लेकिन उन्हें यह एहसास था कि उनकी पढ़ाई-लिखाई के लिए उनके माता-पिता ख़ूब मेहनत कर रहे हैं। माता-पिता की उम्मीदों पर खरा उतरने और उनके सपने साकार करने के मक़सद से मूर्ति ख़ूब मन लगाकर पढ़ने लगे। गाँव और घर में बिजली नहीं थी, लेकिन मूर्ति ने कंदील की रोशनी में पढ़ाई की। और जब माँ चूल्हे पर खाना बनातीं, तब मूर्ति चूल्हे की आग से होने वाली रोशनी में पढ़ाई करते, सिर्फ़ इस वजह से कि कंदील का तेल बच जाय। उम्र में भले ही छोटे थे, लेकिन समझ उनकी अच्छी थी। वे छोटी उम्र से ही खेत में जाकर अपने माता-पिता की मदद भी करने लगे थे। छोटे-छोटे हाथों से ही वे खेत से कूड़ा-कचरा उठाकर बाहर फेंकते।

मूर्ति ने पाँचवीं तक की पढ़ाई भारतीय विद्या मन्दिरम् स्कूल से की। इसके बाद उनके चाचा मूर्ति को अपने साथ कडपा ज़िले के लक्किरेड्डीपल्ली ले गये। चाचा की कोई संतान नहीं थी, इसी वजह उन्होंने मूर्ति की पढ़ाई की ज़िम्मेदारी ली।

लक्किरेड्डीपल्ली में मूर्ति ने ज़िला परिषद हाई स्कूल में पढ़ाई की। पाँचवीं से आठवीं तक यहाँ पढ़ाने के बाद उनके चाचा ने मूर्ति का दाख़िला कडपा शहर के श्री शारदा निलयम हाई स्कूल में करवाया। आठवीं तक मूर्ति ने तेलुगु में ही पढ़ाई-लिखाई की थी। नौवीं से उन्हें इंग्लिश मीडियम स्कूल में पढ़ने का मौक़ा मिला। ग्रामीण परिवेश से आने और आठवीं तक तेलुगु मीडियम स्कूल में पढ़ने की वजह से अंग्रेज़ी को अडॉप्ट करने में उन्हें काफ़ी तकलीफ़ें हुईं। लेकिन लगन और मेहनत से तकलीफ़ों को दूर भगाया।

चूँकि मूर्ति पढ़ाई-लिखाई में तेज़ थे, मेहनत भी खूब करते थे, उनके पिता और चाचा को लगा कि वे डॉक्टर बन सकते हैं। इसी वजह से उनका दाख़िला कडपा के नागार्जुना रेज़िडेंशियल स्कूल में कराया गया। उन्हें बायोलॉजी, फिज़िक्स और केमिस्ट्री यानी बीपीसी की क्लास में भर्ती किया गया।

इसी दौरान एक ऐसी घटना हुई, जिसने मूर्ति को यह प्रण लेने पर मजबूर कर दिया कि उन्हें आगे चलकर डॉक्टर ही बनना है। हुआ यूँ था कि मूर्ति की दादी बीमार पड़ गयीं। इलाज के लिए बड़े अस्पताल में भर्ती करवाने के लिए परिवारवालों के पास रुपये नहीं थे। इसी वजह से दादी को इलाज के लिए सरकारी अस्पताल ले जाया गया। मूर्ति भी अपनी बीमार दादी से मिलने अस्पताल आने-जाने लगे। न जाने दादी को क्या हुआ था, वे सभी से कहने लगीं कि उनका पोता डॉक्टर है। अस्पताल के डॉक्टरों से भी दादी यही कहतीं कि उनका पोता डॉक्टर है।

मूर्ति ने उन दिनों की यादें ताज़ा करते हुए हमें बताया, “पता नहीं दादी अचानक ऐसे क्यों कहने लगी थीं। अस्पताल में भर्ती करवाने के बाद पाँचवें दिन ही उनकी मृत्यु हो गयी। लेकिन उनकी बातों का मुझ पर बहुत असर हुआ। मेरे लिए जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य डॉक्टर बनना ही हो गया। मुझे इस बात का भी दुख था कि डॉक्टर ये पता नहीं लगा पाये थे कि दादी की बीमारी क्या है? उनकी तकलीफ़ का कारण क्या है?”

इस घटना के बाद मूर्ति ने अपना पूरा ध्यान पढ़ाई-लिखाई की ओर लगा दिया। मूर्ति के मुताबिक़, “ग्यारहवीं और बारहवीं की पढ़ाई के दौरान मुझे बहुत तकलीफ़ हुई। मेरी स्कूली पढ़ाई तेलुगु मीडियम से हुई थी, इसी वजह से बायोलॉजी, फिज़िक्स और केमिस्ट्री के बड़े-बड़े शब्दों को, वह भी अंग्रेज़ी में याद रखना मुश्किल हो रहा था। अंग्रेज़ी को पूरी तरह से न समझ पाना बड़ी परेशानी थी। शुरू में तो मैं बहुत घबरा गया। लेकिन धीरे-धीरे पढ़ना शुरू किया। मुझे एहसास था कि अगर मैं फेल हो जाऊँगा, तो माता-पिता बहुत दुखी होंगे। उनके सपने टूट जाएँगे। उनकी सारी उम्मीदें मुझ पर ही टिकी थीं। यही सोचकर मैं बस पढ़ता ही गया।”

मूर्ति ने बायोलॉजी, फिज़िक्स और केमिस्ट्री की अंग्रेज़ी में किताबों को समझने के लिए एक तरकीब अपनायी। उन्होंने इन्हीं विषयों पर तेलुगु में लिखी किताबें भी ख़रीदी और इन किताबों के ज़रिये भी विषय-ज्ञान हासिल करने लगे। वे कहते हैं, "जहाँ दूसरे विद्यार्थी सिर्फ़ एक किताब पढ़ते थे, वहीं मैं दो-दो किताबें पढ़ता था। डिक्शनरी भी हमेशा मेरे हाथ में रहती। जो कोई अंग्रेज़ी शब्द मेरी समझ में नहीं आता, मैं तुरंत डिक्शनरी खोलकर उसका मतलब जान लेता। किताब पर पेंसिल से मैं अंग्रेज़ी शब्द के ऊपर उसका तेलुगु अनुवाद लिख देता था, ताकि रिवीजन के समय डिक्शनरी दुबारा न खोलनी पड़े।"

लेकिन दिन-रात की कड़ी मेहनत के बाद भी मूर्ति मेडिकल कॉलेज की प्रवेश परीक्षा में ऐसा रैंक नहीं ला पाये, जिससे उन्हें सीट मिल जाती। मूर्ति को तकलीफ़ तो बहुत हुई, लेकिन उन्होंने उम्मीदें नहीं छोड़ीं। हिम्मत नहीं हारी। मूर्ति ने अगले साल फिर से प्रवेश परीक्षा लिखने का फ़ैसला लिया। अच्छी तरह से तैयारी हो सके, इस वजह से पिता ने उनका दाख़िला नेल्लूर के कोरा कोचिंग सेंटर में कराया। यहाँ उन्होंने पढ़ाई में कोई कसर बाक़ी नहीं छोड़ी। यहाँ पर मेडिकल कॉलेज की प्रवेश परीक्षा के लिए ख़ास ट्रेनिंग दी जाती थी। मूर्ति अच्छी तरह से जानते थे कि इस बार प्रवेश परीक्षा में नाकामी का सीधा मतलब था माता-पिता की सारी उम्मीदों पर पानी फेरना। माता-पिता मेहनत-मज़दूरी कर मूर्ति की पढ़ाई के लिए रूपये जुटा रहे थे। सुबह चार बजे उठकर माता-पिता काम करने चले जाते थे। ख़ूब मेहनत करते। उनके ऊपर अपनी तीन बेटियों की भी ज़िम्मेदारी थी। पूरी उम्मीदें, सारी आशाएँ मूर्ति पर ही टिक गयी थीं।

इस बार मूर्ति ने किसी को निराश नहीं किया। दूसरे एटेम्पट में उन्हें सीट मिल गयी। मूर्ति ने बताया, "मैं बहुत ख़ुश हुआ था। कामयाबी के पीछे दिन-रात की मेहनत थी। कोचिंग कॉलेज की पढ़ाई के बाद मैं अपने एक लेक्चरर के घर चला जाता था, ताकि विषय पर और भी पकड़ मज़बूत बना सकूँ। मेरे टीचर भी जान गये थे कि मुझ पर डॉक्टर बनने का जुनून सवार है। वे भी मेरी हर मुमकिन मदद करने लगे थे।"

इसी बातचीत के दौरान एक घटना का ज़िक्र करके मूर्ति बहुत ही भावुक हो गये। उन्होंने यह घटना सुनाकर पिता-बेटे के संबंध की गहराई और दोनों के बीच एक-दूसरे पर विश्वास और उम्मीदों को बताने की कोशिश की। मूर्ति ने कहा, "जिस दिन मैं दूसरी बार प्रवेश परीक्षा लिखने वाला था, उस दिन मेरे पिता गाँव से शहर आ गये थे। उन्होंने मुझे यह नहीं बताया था कि वे मेरे पास आने वाले हैं। वे तड़के ही शहर पहुँच गये थे, लेकिन मेरे हॉस्टल नहीं आये। वे बस स्टॉप पर ही रुके रहे।

उन्हें लगा कि अगर वे मेरे पास तड़के ही पहुँच गये, तो मुझे तैयारी में परेशानी होगी। वे ठीक उस समय मेरे सामने आये, जब मैं परीक्षा देने के लिए निकल रहा था। उन्हें देखकर मैं बहुत गदगद हुआ। मेरी ख़ुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा। वह मेरे लिए हमेशा लकी रहे हैं। जब भी मैं उन्हें देखकर कोई भी परीक्षा देने गया हूँ, मैं हमेशा पास हुआ हूँ। उन्हें देखते ही मुझे विश्वास हो गया कि इस बार मुझे हर हाल में सीट मिलेगी। ज़ोश और विश्वास से भरे मन के साथ मैं परीक्षा देने गया और परीक्षा में बहुत अच्छा किया।" परीक्षा से पहले पिता को देखने पर विजयी होने का यह मनोभाव काम कर गया। मूर्ति ने अच्छा रैंक हासिल किया, जिससे उन्हें एमबीबीएस की सीट मिल गयी।

मूर्ति को अपने गाँव से बहुत दूर विशाखापट्टनम के आंध्रा मेडिकल कॉलेज में एमबीबीएस की सीट मिली। मूर्ति बताते हैं कि आंध्रा मेडिकल कॉलेज के शुरुआती दिन बहुत ख़ौफ़नाक रहे। एक तो पहली बार वे अपने गाँव से इतनी दूर आये थे और दूसरा - यहाँ की बोली बिल्कुल अलग थी। मेडिकल कॉलेज की यादगार घटनाओं की जानकारी देते हुए मूर्ति ने कहा, "मेरी जमकर रैगिंग भी की गयी। भाषा तेलुगु ही थी, लेकिन मेरी बोली अलग थी। मैं रायलसीमा से था और यहाँ की बोली आंध्रप्रदेश के दूसरे जगहों से अलग है। दूसरे विद्यार्थी मेरी बोली को लेकर मज़ाक किया करते थे। शुरू में मुझे बहुत अटपटा लगा। क्लासरूम के बाहर की यह परेशानी तो मैं आसानी से झेल गया, लेकिन क्लासरूम के अंदर बड़ी परेशानी थी। लेक्चरर जो पढ़ाते थे, उसमें से कुछ भी मेरी समझ में नहीं आ रहा था। एमबीबीएस का कोर्स मुझे डरावना लगने लगा। मोटे-मोटे, भारी भरकम शब्दों से मैं घबरा गया। मैं इतना घबरा गया कि मैंने ट्रेन पकड़ी और गाँव चला आया। मैंने पहली बार अकेले ट्रेन में इतना बड़ा सफ़र तय किया था। जब मैं गाँव पहुँचा और पिता को अपने गाँव आने का कारण बताया, तो वे भी घबरा गये। उन्हें सदमा पहुँचा। लेकिन जल्द ही वे इस सदमे से बाहर निकले और मुझे समझाया कि अगर मैं डॉक्टर नहीं बना, तो सभी हमेशा ग़रीब ही रहेंगे और ज़िंदगी-भर परेशानियाँ साथ रहेंगी। पिता ने मुझे अलग-अलग बातें कहकर समझाने की कोशिश की थी। मैं भी समझ गया कि घर-परिवार की भलाई के लिए मुझे मेडिकल कॉलेज वापस लौटना होगा।" मूर्ति वापस विशाखापट्टनम लौटे और पढ़ाई पर ध्यान देना शुरू किया। उन्होंने बताया कि कॉलेज में उनके सीनियर्स ने उनकी बहुत मदद की। इस बातचीत में मूर्ति यह बताने से भी नहीं चूके कि उनके साथी उनकी कामयाबियों से जलते थे। क्लासमेट्स जानते थे कि मूर्ति ग्रामीण परिवेश से आये हैं और इसके बाद भी वे उनसे अच्छे नंबर ला रहे हैं, इस बात को लेकर वे उनसे जलते थे। सीनियर्स से मूर्ति को

लगातार मिलती मदद भी क्लासमेट्स की आँखों में खलती थी। लेकिन मूर्ति ने इन सब की परवाह नहीं की और डॉक्टर बनने के अपने लक्ष्य को हासिल करने के लिए जी-जान लगा दिया। ग्रामीण परिवेश, अंग्रेज़ी भाषा जैसे कारणों की वजह से आयी तकलीफ़ों को दूर भगाया। मेहनत और लगन रंग लायीं रही और मूर्ति ने 2000 में एमबीबीएस की डिग्री हासिल कर ली।

एमबीबीएस की पढ़ाई के दौरान ही मूर्ति का मन सर्जरी पर आ टिका था। वे सर्जन बनना चाहते थे। उन्होंने प्लास्टिक सर्जन बनने के सपने देखे। मूर्ति ने कहा, "प्लास्टिक सर्जरी बड़ी चुनौतियों से भरा काम है। जलने की वजह से, या फिर, किसी और हादसे की वजह से बिगड़े हुए चेहरे को प्लास्टिक सर्जरी के ज़रिये जिस तरह फिर से चमकदार बनाया जा सकता है, उसे देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। लेकिन मैं प्लास्टिक सर्जन नहीं बन पाया। जिस तरह का रैंक था मेरा, मुझे नाक, कान और गले वाले डिपार्टमेंट में भेजा गया।" मूर्ति को ईएनटी रोगों के इलाज में स्पेशलाइजेशन के लिए काकिनाडा के रंगराया मेडिकल कॉलेज में सीट दी गयी।

इसी बीच एक और ऐसी घटना हुई, जिसने मूर्ति को फिर से घर-परिवार की ज़िम्मेदारियों की याद दिलायी। एक दिन पिता ने मूर्ति से पूछा, "तुम डॉक्टर तो बन गये हो, फिर कब हमें तुम्हारी कमाई के रुपयों से भोजन का पहला निवाला मिलेगा।" पिता के इन शब्दों ने मूर्ति को हिलाकर रख दिया। मूर्ति जानते थे कि पिता ने उन्हें डॉक्टर बनाने के लिए दिन-रात एक किये थे। अपने खेतों के अलावा दूसरे के खेतों में भी पसीना बहाने के लिए मजबूर किया था। मूर्ति के लिए दुविधा यह भी थी कि वे अपने पिता को समझा नहीं सकते थे कि स्पेशलाइजेशन के बाद ही उनकी कमाई शुरू होगी। और तो और, दूसरे गाँववाले पिता को ये कहकर टोंट भी मारते थे - तुम तो कहते हो तुम्हारा बेटा डॉक्टर बन गया है, फिर भी तुम मज़दूरी क्यों कर रहे हो? तुम्हारा बेटा डॉक्टर बना भी है या नहीं?

मूर्ति समझ गये कि ऐसे हालात में पिता को समझाना मुश्किल है। इसी वजह से उन्होंने पढ़ाई के साथ-साथ नौकरी करने की ठान ली। बच्चों के डॉक्टर राधा कृष्णा के यहाँ मूर्ति को डॉक्टरी की पार्ट-टाइम नौकरी मिल गयी। दिन में वे मेडिकल कॉलेज में ईएनटी स्पेशलाइजेशन की पढ़ाई करते और शाम को डॉक्टर राधा कृष्णा के साथ मरीज़ों का इलाज। मूर्ति ने बताया, "डॉ. राधा कृष्णा के साथ काम करने से मुझे कई फ़ायदे हुए। डॉ. राधा कृष्णा ने मुझे बच्चों के इलाज के बारे में बहुत सारी जानकारियाँ दीं। बच्चों का इलाज कैसे किया जाता है, यह बताया और सिखाया। यहीं पर काम करते हुए मुझमें बच्चों का इलाज करने में दिलचस्पी जगी। मैं एक तरह से बच्चों का डॉक्टर भी बन गया था। दूसरा फ़ायदा यह हुआ

कि मेरी कमाई शुरू हुई। पढ़ाई का ख़र्च अब पिता को नहीं उठाना पड़ रहा था। पिता भी अब गाँववालों से कहने लगे थे - देखो, मेरा बेटा डॉक्टर बन गया है। वह कमाने भी लगा है और इसी वजह से वह अब मुझसे रुपये भी नहीं लेता।"

ईएनटी में स्पेशलाइजेशन करने के बाद मूर्ति ने अपनी प्रैक्टिस शुरू की। वे अब कान-नाक और गले से जुड़े रोगों के विशेषज्ञ हैं। मशहूर सर्जन हैं। बच्चों में कान-नाक और गले से जुड़ी समस्याओं को सुलझाने में माहिर हैं। वे इन दिनों दो बड़े कॉर्पोरेट अस्पतालों में अपनी सेवाएँ दे रहे हैं।

डॉक्टर बनकर मूर्ति जब कमाने लगे, तब उन्होंने घर-परिवार की कई ज़िम्मेदारियाँ अपने कंधों पर ले लीं। उन्होंने अपनी दूसरी बहन की शादी करवायी। तीसरी बहन की पढ़ाई में मदद की और इस मदद की वजह से वे आज आल्लगड्डा में डेंटल सर्जन हैं। पहली छोटी बहन की शादी पिता ने ही करवायी थी और मूर्ति उस समय इस हालत में नहीं थे कि वे पिता की मदद कर सकें। मूर्ति ने बड़ी ख़ुशी और बड़े गर्व के साथ हमें यह भी बताया कि अब उन्होंने अपने गाँव में एक बढ़िया मकान भी बनवा लिया है। वहाँ अब एसी भी है और गीज़र भी।

इस मुलाक़ात के दौरान मूर्ति ने हमें अपने डॉक्टरी जीवन की बड़ी ही यादगार और दिलचस्प घटनाओं के बारे में भी बताया। अपने पहले ऑपरेशन की यादें ताज़ा करते हुए मूर्ति ने कहा, "उन दिनों मेरी इंटर्नशिप चल रही थी। गले के कैंसर से पीड़ित एक मरीज़ आया था अस्पताल में। उसे साँस लेने में बहुत तकलीफ़ हो रही थी। मैंने 'ट्राइकोस्टमी' की। मैंने ऑब्स्ट्रक्शन का बाईपास किया था, ताकि बेहतर तरीक़े से मरीज़ साँस ले सके। मरीज़ को फ़ायदा भी मिलने लगा। अस्पताल में वह मरीज़ जितने दिन रहा, उतने दिन मैंने उसकी ड्रेसिंग की और गले से निकलने वाले मैल आदि को साफ़ किया। ठीक होने के बाद वह मरीज़ अपने घर चला गया। एक दिन यही मरीज़ एक देशी मुर्गी लेकर अस्पताल आया और उसने मुझे यह मुर्गी दी। मुर्गी देते हुए उसने कहा - मैं ग़रीब हूँ। आपको कुछ दे नहीं सकता। आपने मेरी बहुत मदद की। मेरे पास मुर्गी थी। सोचा यह मुर्गी ही दे हूँ, इसी वजह से यह मुर्गी आपके लिए लाया हूँ। ये बातें कहकर उस व्यक्ति ने मेरे हाथों में मुर्गी थमा दी और चला गया।" ख़ास बात तो यह थी कि जब उस व्यक्ति ने मूर्ति को कृतज्ञता भाव से मुर्गी दी थी, उस समय अस्पताल में प्रोफ़ेसर, दूसरे डॉक्टर और कई सारे मरीज़ मौज़ूद थे। सभी यह घटना देखकर ख़ूब हँसे थे। मूर्ति ने बताया कि इस घटना के चार महीने बाद उस व्यक्ति की मौत हो गयी और उन्होंने उसकी पत्नी की आर्थिक मदद की थी।

अपनी ज़िंदगी के सबसे जटिल ऑपेरशन के बारे में भी मूर्ति ने हमें बताया। उन्होंने कहा, "यमन से छह साल का एक बच्चा आया था। उसे भी साँस लेने में तकलीफ़ थी। उसके माता-पिता उसे कई जगह ले गये थे। दो-तीन ऑपरेशन भी किये जा चुके थे। लेकिन बच्चे की तकलीफ़ दूर नहीं हुई थी। बच्चे के माता-पिता को वह भाषा नहीं आती थी, जो मैं समझता था। और मुझे वह भाषा नहीं आती थी, जो वह बोलते-समझते थे। एक ट्रांसलेटर के ज़रिये मैंने उनसे उनके बच्चे की तकलीफ़ के बारे में जाना। मुझे विश्वास था कि मैं बच्चे की तकलीफ़ दूर कर सकता हूँ। मैंने ऑपरेशन किया और कामयाबी हासिल की। ऑपरेशन बहुत जटिल था। लेकिन मेरा अनुभव काम आया।"

मूर्ति ने यह भी बताया, "बच्चों का ऑपरेशन हमेशा जटिल होता है। बच्चों में एयरवे छोटा होता है। हवा जाने की जो नली होती है, वह बहुत सॉफ्ट और डेलिकेट होती है। लंग वाइटल कैपेसिटी और वॉल्यूम भी कम होता है।" उन्होंने इसी संदर्भ में आगे कहा, "उम्र में बड़े लोग अपनी तकलीफ़ बता सकते हैं, जबकि बच्चे अपनी तकलीफ़ बता नहीं सकते। डॉक्टरों को ख़ुद उनकी तकलीफ़ समझनी होती है। विशाखापट्टनम में डॉ. राधा कृष्णा के साथ काम करते हुए मैंने बच्चों की तकलीफ़ों को समझने की कला सीखी थी।"

डॉ. राधा कृष्णा ने अलावा मूर्ति डॉ. श्रीनिवास किशोर को बहुत मानते हैं। वे कहते हैं, "डॉ श्रीनिवास किशोर मेरे बॉस हैं। उन्होंने मुझे बहुत सिखाया है। किसी कॉर्पोरेट हॉस्पिटल में पहली बार काम करने के बाद मुझे जो पहला चेक मिला था, वह उन्होंने ही दिया था। मुझे वह दिन आज भी याद है और मैं उसे कभी भूल नहीं सकता।"

एक सवाल के ज़वाब में मूर्ति ने कहा, "मेरी ज़िंदगी के दो-तीन ही मक़सद हैं। पहला - ज़्यादा से ज़्यादा लोगों की सेवा करूँ। दूसरा - ज़्यादा से ज़्यादा बच्चों की तकलीफ़ें दूर करते हुए उनकी ज़िंदगी में ख़ुशियाँ लाऊँ। तीसरा - माता-पिता की सेवा करूँ और पत्नी-बच्चों को ख़ुश रखूँ।"

मूर्ति से इस बातचीत के दौरान कई बार एहसास हुआ कि वे पिता से बहुत ज़्यादा प्रभावित हैं। पिता उनकी सबसे बड़ी और अमूल्य संपत्ति हैं। एक संदर्भ में मूर्ति ने कहा, "मेरी कामयाबियों पर पिता ख़ुश बहुत होते हैं, लेकिन अपनी ख़ुशी का इज़हार मेरे सामने नहीं करते। लेकिन वे अपनी ख़ुशी दूसरों के सामने ज़ाहिर करते थे। दूसरों से ही मुझे पता लगता था कि वे कितने ख़ुश हैं। मेरे पिता नहीं चाहते थे कि मुझमें अहंकार आ जाय। उन्हें लगता था कि अगर वे मेरे सामने

मेरी तारीफ़ कर दें, तो मुझमें अहंकार आ जाएगा। एक बात है जो वह मुझसे कई बार कहते, वे कहते-कभी भी अपने आप को महान मत समझो। ये मत समझो कि काम ख़त्म हो गया है। अभी बहुत काम करना बाक़ी है। दुनिया में बहुत सारा काम है, जो तुम्हें करना है।"

पहले 'स्वीकार', फिर 'आश्रय', बाद में 'सुरक्षा' से मिला विकलांगों को नये जीवन का 'उपकार'

दुनिया-भर की कुल आबादी में तक़रीबन 15 फीसदी लोग विकलांग हैं, ऐसा मानना है विश्व स्वास्थ्य संगठन का। इनमें से लगभग 80 फीसदी लोग विकासशील देशों में रह रहे हैं, जिनमें शारीरिक और मानसिक दोनों तरह की विकलांगता शामिल है। असल में विकलांगता एक स्थिति है, जिसमें पीड़ित अपने को, कई मामलों में दूसरे की अपेक्षा कमतर मानते हैं और समाज उनकी इस ग्रंथि पर लगातार कुठाराघात करता है। इसलिए अगर सामाजिक सोच में कमी है, तो विकलांगता अभिशाप बन जाती है और समाज बेहतर और प्रगतिशील है, तो फिर विकलांगता एक बीमारी है, जिसे समय के साथ बेहतर किया जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि शारीरिक रूप से अक्षम लोगों में आत्मविश्वास की कमी होती है। बस ज़रूरत है उसे सही रूप में जगाने की, बिना दयाभाव दिखाये उनके जज़्बे को आवाज़ देने की। एक ऐसे ही शख़्स हैं, जिन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से क़रीब 58 लाख विकलांग लोगों को नयी उम्मीद दी है, जीवन जीने का असली मक़सद दिया है। यक़ीन करना थोड़ा मुश्किल हो सकता है, पर यह सच है। जिस शख़्स ने पिछले 38 सालों में यह महान और असाधारण काम किया है, उनका नाम है डॉ. पी. हनुमंत राव।

हैदराबाद में रहने वाले बाल-रोग विशेषज्ञ डॉ. पी. हनुमंत राव ने अपना सारा जीवन विकलांगों की मदद और सेवा में समर्पित कर दिया है। उन्होंने ऐसी व्यवस्था

स्थापित की है, जिससे हर दिन सैकड़ों विकलांग लाभ उठकर स्वावलम्बी बनने की कोशिश कर रहे हैं। 38 साल पहले हैदराबाद में एक छोटे से गैराज में मानसिक रूप से विकलांगों के इलाज और पुनर्वास के लिए एक केंद्र की शुरुआत करने वाले हनुमंत राव ने आज चार ग़ैर-सरकारी संगठनों के ज़रिये सभी तरह के विकलांग बच्चों और दूसरे लोगों की मदद करने वाला देश का सबसे बड़ा केंद्र बना लिया है। इतना ही नहीं, डॉ. हनुमंत राव ने कई शैक्षणिक संस्था और प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये हैं, जहाँ से हर साल समाज को कई ऐसे लोग मिल रहे हैं, जो विकलांगों के इलाज और पुनर्वास में महारत रखते हैं। हनुमंत राव ने जो हासिल किया है, उसे हासिल करने की कल्पना करना भी बेहद मुश्किल है। हनुमंत राव की समाज-सेवा अतुल्य है। उनका प्रयास असामान्य है और प्रयोग अभूतपूर्व। उनकी सफलता एक अद्भुत मिसाल है। दुनिया के सामने एक बहुत बड़ी सीख है। विकलांगों के इलाज और पुनर्वास में उनका काम देश ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर के लिए अनुसरणीय है।

हनुमंत राव की कहानी लोगों को बहुत कुछ सिखाती है। यह एक ऐसी कहानी है, जिसमें संघर्ष है, विपरीत परिस्थितियों में पेश आने वाली चुनौतियाँ और समस्याएँ हैं, समाज के शरारती तत्वों की हरकतें हैं और भी बहुत कुछ है। लेकिन सबसे महत्वपूर्ण है बुलंद हौसलों, मेहनत, लगन और जुनून के बल पर असामान्य जीत हासिल करने का प्रत्यक्ष और जीता जागता उदाहरण।

हनुमंत राव का जन्म 16 सितम्बर, 1945 को हैदराबाद के पुराने शहर में हुआ। परिवार में पिता और दो चाचा रजिस्टर्ड मेडिकल प्रैक्टिशनर थे। उन दिनों पूरी हैदराबाद रियासत में बहुत ही कम डॉक्टर और मेडिकल प्रैक्टिशनर हुए करते थे। पिता चाहते थे कि हनुमंत राव भी उन्हीं की तरह मेडिकल प्रैक्टिशनर बनें और नर्सिंग होम चलाने में उनकी मदद करें। लेकिन हनुमंत ने कुछ बड़ा करने की सोच ली थी। वे मेडिकल प्रैक्टिशनर ही नहीं, बल्कि एमबीबीएस की पढ़ाई पूरी कर डॉक्टर बनने का सपना देखने लगे थे। उन दिनों भी परिवार 45 बिस्तरों वाला नर्सिंग होम चलाता था, जो कि बहुत बड़ी बात थी। हनुमंत राव के परिवार का पूरे शहर में बहुत रुतबा था। संयुक्त परिवार था। आमदनी ख़ूब थी। घर में सारी सुख-सुविधाएँ मौजूद थीं। हनुमंत राव स्कूल के दिनों में ही कार चलाया करते थे। उन्होंने मुफीद-उल-अनम हाई स्कूल से पढ़ाई की। उन दिनों की यादें ताज़ा करते हुए हनुमंत राव कहते हैं, "वे सबसे ख़ुशनुमा दिन थे। कोई तकलीफ़ नहीं थी। उन दिनों मैंने सारे सुख का अनुभव किया। वे दिन मैंने दुबारा नहीं देखे।" चूँकि परिवार में तीन मेडिकल प्रैक्टिशनर थे, इसलिए हनुमंत ने भी डॉक्टर बनने की ठान ली। मेहनत और लगन के बल पर हनुमंत राव ने वरंगल के काकतीय मेडिकल कॉलेज

में दाख़िला हासिल कर लिया। लेकिन यहाँ मेडिकल की पढ़ाई शुरू होते ही एक के बाद मुसीबतें भी आनी शुरू हुईं। संयुक्त परिवार टूट गया। सब अलग हो गये। आर्थिक स्थिति पहले जैसी नहीं रही। सुख के साधन भी दूर होते गये। एक तरह से सारे परिवार की ज़िम्मेदारी हनुमंत राव के कंधों पर आ पड़ी। 4 भाइयों और 4 बहनों की ज़िम्मेदारी भी हनुमंत राव पर ही थी। यही वजह थी कि एमबीबीएस की पढ़ाई पूरी होते ही पिता ने हनुमंत राव को तुरंत डॉक्टरी शुरू करने को कहा, ताकि घर-परिवार चल सके। लेकिन हनुमंत राव आगे और पढ़ना चाहते थे। वे बाल-रोग विशेषज्ञ बनना चाहते थे। उनका इरादा एमडी की डिग्री हासिल करने के बाद लोगों का इलाज करने का था। पर परिवारवाले ज़ोर-ज़बरदस्ती पर उतारू थे। ऐसे में हनुमंत राव ने एक बड़ा फ़ैसला लिया। उन्होंने अपने पिता को बता दिया कि वे अपनी पढ़ाई जारी रखेंगे, लेकिन पढ़ाई के दौरान 600 रुपये महीना वज़ीफ़ा जो मिलेगा, वह सारे वे परिवार के नाम कर देंगे। इस फॉर्मुले पर परिवारवाले राज़ी हो गये। शुरू से ही हनुमंत राव ने अपने करियर में किसी की मदद नहीं ली। उल्टे उन्होंने अपने सारे परिवार - भाइयों-बहनों की हर मुमकिन मदद की और आगे चलकर उनका घर-परिवार बसाया।

एमडी की डिग्री हासिल करने के बाद हनुमंत राव ने दूसरे डॉक्टरों की तरह आम लोगों की आम बीमारियों का इलाज करना शुरू नहीं किया। उन्होंने कुछ अलग और बेहतर करने की सोची और वैसा ही किया। हनुमंत राव बताते हैं कि उन दिनों हैदराबाद में कई डॉक्टर हो गये थे। बच्चों की बीमारियों के स्पेशलिस्ट डॉक्टर आ गये थे। लेकिन विकलांग बच्चों का इलाज करने वाले डॉक्टर न के बराबर थे। बच्चे चाहे मानसिक रूप से विकलांग हों या शारीरिक रूप से, उनकी ठीक तरह से देखभाल और इलाज करने वाले डॉक्टरों की देश-भर में कमी थी।

हनुमंत राव ने देखा कि विकलांग बच्चों के माँ-बाप भी काफ़ी तकलीफ़ें झेलते हैं। अपने बच्चों का सही इलाज करवाने के लिए दर-दर भटकते हैं। गाँव-गाँव, शहर-शहर घूमते हैं। फिर भी सही इलाज नहीं हो पाता।

इसी समय हनुमंत राव ने अपनी ज़िंदगी का सबसे बड़ा फ़ैसला लिया। उन्होंने ठान लिया कि वे अपनी ज़िंदगी विकलांग बच्चों के जीवन को बेहतर बनाने के लिए समर्पित कर देंगे। अपने फ़ैसले के मुताबिक़ हनुमंत राव ने विकलांग बच्चों का इलाज करना शुरू किया। अपनी प्रैक्टिस के दौरान हनुमंत राव को इस बात का एहसास हुआ कि विकलांग बच्चों का इलाज और उनकी देखभाल कोई मामूली बात नहीं है। इसके लिए ख़ास ट्रेनिंग की ज़रूरत है।

हनुमंत राव ने पता लगाया कि विकलांग बच्चों के इलाज और उनके पुनर्वास की स्पेशल ट्रेनिंग कहाँ दी जाती है। फिर क्या था - हनुमंत राव ने तुरंत मुंबई के आल इंडिया इंस्टिट्यूट ऑफ फिजिकल मेडिसिन एंड रिहैबिलिटेशन में दाख़िला ले लिया। मुंबई के इस संस्थान में प्रशिक्षण से हनुमंत राव के हौसले और भी बुलंद हो गये। उनका आत्म-विश्वास और भी बढ़ गया। हैदराबाद लौटकर उन्होंने विकलांग बच्चों का इलाज और उनके पुनर्वास का काम ज़ोर-शोर से शुरू कर दिया। इस बीच हनुमंत राव ने उस्मानिया विश्वविद्यालय से साइकोलॉजी में डॉक्टरेट की उपाधि भी हासिल की।

1977 में पहली बार हनुमंत राव ने हैदराबाद में मानसिक रूप से विकलांग बच्चों के लिए एक सेंटर की स्थापना की। ख़ास बात यह है कि उस समय देश में ऐसे बहुत ही कम संस्थान थे। कोलसावाड़ी इलाक़े के एक मामूली से गैराज में इस सेंटर को खोला गया था। शुरुआत में सिर्फ़ 5 बच्चे थे और इनकी देखभाल और इलाज के लिए हनुमंत राव के साथ दो स्टाफ मेंबर थे। एक मायने में गैराज में शुरू किया गया यह सेंटर एक बहुत बड़े और बेहद प्रभावी संस्थान की नींव थी। एक गैराज में मानसिक रूप से विकलांग पाँच बच्चों के साथ शुरू हुआ एक सेंटर आगे चलकर विकलांगों के लिए देश के सबसे बड़े और कारगर चिकित्सा, पुनर्वास, शिक्षण और प्रशिक्षण केन्द्रों में एक बना।

हनुमंत राव ने एक बेहद ख़ास मुलाक़ात में बताया कि उन दिनों अगर घर में कोई बच्चा या व्यक्ति विकलांग होता था, तो परिवारवाले उसे छिपा कर रखते थे। घर-परिवार में किसी एक के विकलांग होने को अभिशाप माना जाता था। लोग ये समझते थे कि किसी जन्म के पाप की सज़ा की वजह से उनके घर में विकलांग हुआ है। लोगों को यह मालूम ही नहीं था कि मानसिक रूप से विकलांग बच्चों और बड़े लोगों का इलाज और पुनर्वास किया जा सकता। कई लोग मानसिक रूप से विकलांग बच्चों और बड़े लोगों को अपने घर में ज़ंजीरों से बाँधकर रखते थे। लोगों में जागरूकता की बहुत कमी थी।

हनुमंत राव के मुताबिक़, सिर्फ़ विकलांग बच्चों के माता-पिता ही नहीं, बल्कि सामान्य बच्चों के माता-पिता और दूसरे लोगों में भी विकलांगों के पुनर्वास के बारे में जागरूकता नहीं थी। उदाहारण के रूप में वे एक घटना के बारे में बताते हैं। हुआ यूँ था कि जिस गैराज में हनुमंत राव ने मानसिक रूप से विकलांग बच्चों के इलाज और पुनर्वास के लिए एक सेंटर खोला था, वह एक रिहायशी इलाक़े में था। सेंटर के आस-पड़ोस में कई मकान थे। इन मकानों में रहने वालों को वहाँ मानसिक रूप से विकलांग बच्चों का सेंटर खोला जाना पसंद नहीं था। ये लोग नहीं

चाहते थे कि उनके मकानों के पास विकलांग बच्चे रहें। सेंटर को वहाँ से हटवाने के लिए लोगों ने तरह-तरह के हथकंडे अपनाये। एक बार तो लोगों ने ऊँची बिल्डिंग से सेंटर के बच्चों और स्टाफ पर ख़ूब पानी फेंका। मक़सद था कि सेंटरवालों को वहाँ से डराकर भगा देने का। लेकिन हनुमंत राव के इरादे बुलंद थे। वे किसी के सामने झुकने वाले नहीं थे। वे टस से मस नहीं हुए। डटे रहे, अपना सेंटर चलाया और उसे आगे बढ़ाया।

हनुमंत राव की मानें तो 70 और 80 के दशक में डॉक्टरों में भी विकलांग बच्चों के इलाज और पुनर्वास के बारे में ज़्यादा जानकारी नहीं थी। एमडी के कोर्स में मानसिक रूप से विकलांग बच्चों और लोगों के बारे में कुछ जानकारी दी जाती थी, लेकिन वह पर्याप्त नहीं थी। हनुमंत राव बताते हैं कि सत्तर और अस्सी के दशक में हैदराबाद में सिर्फ़ चार डॉक्टर ऐसे थे, जो बाल-रोग विशेषज्ञ थे। अगर वे चाहते, तो सामान्य बच्चों की सामान्य बीमारियों का इलाज करते हुए ख़ूब पैसे कमा सकते थे और आरामवाली या फिर ऐश-भरी ज़िंदगी जी सकते थे। लेकिन उन्होंने ठान लिया कि वे कुछ असाधारण करेंगे। उन लोगों तक पहुँचेंगे, जिन तक कोई नहीं पहुँचता। उन लोगों की मदद करेंगे, जो ख़ुद अपनी मदद करने में अक्षम हैं।

साल 1981 में हनुमंत राव के जीवन में एक और बड़ी घटना हुई। भारतीय सेना ने उन्हें मानसिक रूप से विकलांग बच्चों के इलाज और पुनर्वास के लिए बड़ा केंद्र बनाने के मक़सद से सिकंदराबाद में ज़मीन आवंटित की। इसी ज़मीन पर आध्यात्मिक गुरु पुट्टपर्ती सत्य साईं बाबा ने नये भवन की नींव रखी। हनुमंत राव ने मानसिक रूप से विकलांग बच्चों की मदद के लिए 'स्वीकार' नाम से एक ग़ैर-सरकारी संगठन की स्थापना की। संगठन का नाम 'स्वीकार' रखने की वजह बताते हुए हनुमंत राव ने कहा, "उन दिनों समाज मानसिक रूप से विकलांग बच्चों को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। लोग यह मानते थे कि घर में एक व्यक्ति के विकलांग होने से सारे परिवार की शांति हमेशा के लिए ख़त्म हो जाती है। लोग यह मानने को तैयार ही नहीं थे कि मानसिक रोगों से पीड़ित लोगों का इलाज मुमकिन है। लोग चिकित्सा विज्ञान में हुई प्रगति से अनजान थे। इसीलिए मैंने सोचा कि हमारा संगठन ऐसे लोगों को स्वीकार करेगा, जिन्हें समाज स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।"

हनुमंत राव यह कहने से भी नहीं हिचकिचाते हैं कि उस दौर के कई डॉक्टर भी उनकी इस समाज-सेवा से जलते थे। वे कहते हैं, "कुछ लोग तो यह भी कहते थे कि

पागलों का इलाज करते-करते हनुमंत राव ख़ुद पागल हो जाएगा।" लेकिन हनुमंत राव ने इन बातों की परवाह नहीं की। विकलांगों की सेवा को बेरोकटोक जारी रखा।

9 साल तक लगातार मानसिक रूप से विकलांग लोगों की सेवा करने के बाद हनुमंत राव के मन में विचार आया कि उन्हें अब शारीरिक रूप से विकलांग बच्चों और दूसरे लोगों की भी मदद करनी चाहिए। अपने इसी विचार को अमलीजामा पहनाते हुए हनुमंत राव ने अलग-अलग तरह की विकलांगता से पीड़ित लोगों के इलाज और पुनर्वास के लिए काम करना शुरू किया। विकलांगों के अलावा नशे की आदत से परेशान लोगों, पारिवारिक और मानसिक समस्यायों से जूझ रहे लोगों की मदद के लिए भी केंद्र खोले।

हनुमंत राव ने आगे बढ़ते हुए 'स्वीकार' की तर्ज़ पर ही तीन अन्य ग़ैर-सरकारी और स्वयंसेवी संगठनों की शुरुआत की। इन संगठनों को हनुमंत राव ने 'उपकार', 'आश्रय' और 'सुरक्षा' नाम दिये। ये सभी संस्थाएँ अपने नाम के अनुरूप ही काम करती हैं। 'उपकार' के ज़रिये हनुमंत राव विकलांग बच्चों और बड़े लोगों की हर मुमकिन मदद करते हैं। 'आश्रय' के ज़रिये इन लोगों को वे रहने की जगह मुहैया करते हैं और 'सुरक्षा' के माध्यम से वे आर्थिक, सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हैं, ताकि उनका शोषण न हो। 'स्वीकार', 'उपकार', 'आश्रय' और 'सुरक्षा' - ये चारों संगठन स्वतंत्र रूप से काम करते हैं।

विकलांग लोगों की सेवा और मदद करते हुए हनुमंत राव ने यह महसूस किया कि भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर में विकलांग लोगों का इलाज और पुनर्वास करने के लिए पर्याप्त प्रशिक्षित लोग नहीं हैं। स्किल्ड और ट्रेंड मैन-पावर की कमी है। देश ही नहीं, बल्कि दुनिया-भर में विकलांगों की संख्या लगातार बढ़ रही है, लेकिन उसी अनुपात में उनका इलाज करने वाले लोगों की संख्या नहीं बढ़ रही है। देश-भर में विकलांगों की मदद करने में ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को सक्षम बनाने के मक़सद से हनुमंत राव ने 'भागीरथी प्रयास' शुरू किया। अलग-अलग तरह की विकलांगता से पीड़ित लोगों के इलाज और पुनर्वास हेतु लोगों को प्रशिक्षित करने के लिए हनुमंत राव के एक के बाद एक कई स्कूल खोले। हनुमंत राव द्वारा खोले गये इन शैक्षणिक संस्थाओं और प्रशिक्षण केंद्रों में 30 अलग-अलग कोर्स पढ़ाये जा रहे हैं। इन्हीं शैक्षणिक संस्थाओं और प्रशिक्षण केंद्रों की वजह से हर साल सैकड़ों लोग विकलांगों की मदद करने में सक्षम बनकर उभर रहे हैं।

यह हनुमंत राव की मेहनत, लगन और दूरदर्शिता का ही नतीजा है कि आज हैदराबाद के अलावा ताण्डुर, कडपा और गुंटूर में भी कैंपस बन चुके हैं। इतना ही

नहीं, 'स्वीकार' वह जगह बन चुकी है, जहाँ हर क़िस्म की विकलांगता का इलाज किया जा सकता है और हर क़िस्म के विकलांग लोगों के पुनर्वास के प्रयास शुरू किये जा सकते हैं।

वैसे तो हनुमंत राव को इस सफल 'भागीरथी प्रयास' की वजह से कई सम्मान और पुरस्कार भी मिले, लेकिन कुछ लोगों ने उन पर तरह-तरह के आरोप लगाये। उन्हें हतोत्साहित की कोशिश की। हनुमंत राव ने बताया, "कुछ लोगों ने, जिनमें कुछ डॉक्टर भी शामिल हैं, ने यह कहा कि मैंने मोटी रक़म कमाने के मक़सद से ही विकलांगों के लिए इतने केंद्र और संस्थान खोले। उनकी नज़र में मेरा मक़सद सिर्फ़ और सिर्फ़ रुपये कमाना है। लेकिन ये लोग नहीं जानते हैं कि मैंने इन शैक्षणिक संस्थाओं और प्रशिक्षण केंद्रों को खोलने के लिए कितना त्याग किया। मेरे परिवारवालों ने भी बहुत त्याग किया है। अगर हम अपना समय, रूपया, मेहनत नहीं लगाते, तो 'स्वीकार', 'उपकार', 'आश्रय' और 'सुरक्षा' नहीं बन पाते। लोग ये नहीं जानते कि इन सबको खड़ा करने के लिए मैंने क्या-क्या किया है। कितनी भाग-दौड़ की है। कितना पसीना बहाया है। कितनी तकलीफ़ झेली है। कितने आरोप सुने हैं। लोग ये नहीं जानते कि मैंने इन शैक्षणिक संस्थाओं और प्रशिक्षण केंद्रों को खड़ा करने और चलाने के लिए 25 बैंकों से क़र्ज़ लिया है। कई दोस्तों और शुभचिंतकों से रुपये उधार लिये हैं। मेरा ख़ुद का मकान गिरवी रखा है।" नये उद्यमियों को अपने अनुभव के आधार पर नसीहत देते हुए हनुमंत राव कहते हैं कि कोई भी इंसान जब कोई बड़ा और असाधारण काम करता है, तब लोग पहले उसकी निंदा करते हैं। उसके उत्साह को ख़त्म करने की कोशिश करते हैं। उसे कामयाबी की राह से हटाने में भी जुट जाते हैं। लेकिन समझदार उद्यमी वही है, जो इन लोगों की बातों पर ध्यान नहीं देता। कामयाब वही होते हैं, जो अपने लक्ष्य से नहीं भटकते।" हनुमंत राव एक और बड़ी सलाह यह देते हैं कि किसी भी व्यक्ति, ख़ास तौर पर उद्यमी को अपनी क्षमता से ज़्यादा बोझ नहीं उठाना चाहिए। जो आदमी अपनी क्षमता से ज़्यादा करने की कोशिश करता है, वह कहीं न कहीं अटक जाता है। कामयाबी की राह से भटक जाता है। मार्केटिंग को भी कामयाबी के लिए अहम बताते हुए हनुमंत राव सुझाव देते हैं कि सही मार्केटिंग और इमेज बिल्डिंग नहीं हुई, तो मुश्किलें ही मुश्किलें हैं। काम अच्छा और ईमानदारी से होना चाहिए और काम के अनुरूप ही उसकी मार्केटिंग।

अपने दिल की आवाज़ सुनकर दिल के डॉक्टर बने संजय अग्रवाल ने साबित किया कि भीड़ से अलग चलने पर ही बनती है अलग पहचान

डॉक्टर संजय अग्रवाल वह मशहूर शख़्सियत हैं, जिन्होंने बहुत पहले भीड़ से अलग चलने का फ़ैसला लिया था। फ़ैसला साहसिक था। सभी ने फ़ैसले का विरोध भी किया था, निराश करने वाली बातें कही थीं। लेकिन इन बातों की परवाह किये बिना संजय अग्रवाल ने वह राह चुनी थी, जिस पर उनसे पहले बहुत ही कम लोग गये थे। राह आसान नहीं थी। पग-पग पर चुनौतियाँ थीं, कई सारी अड़चनें थीं। मुसीबतें बाहें खोले खड़ी थीं। लेकिन आगे चलकर इसी मार्ग पर उन्हें बहुत बड़ी कामयाबी मिली। समाज में उनकी अलग पहचान बनी। वे कइयों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने। बहुत सारे लोगों ने फिर वही रास्ता चुना, जिस पर संजय अग्रवाल चले थे।

संजय अग्रवाल ने अस्सी के दशक में ही कार्डियक-सर्जन बनने का फ़ैसला लिया था। यह फ़ैसला वक़्त से लड़ाई के बराबर था, लेकिन संजय अग्रवाल ने अपनी हिम्मत, लगन और प्रतिभा से यह लड़ाई जीत ली। उनकी गिनती आज भारत के श्रेष्ठ कार्डियक-सर्जनों में होती है। इन जैसे साहसी डॉक्टरों की वजह से देश में कार्डियक-सर्जनों की एक फ़ौज तैयार हुई है और हृदय से जुड़े बड़े-बड़े ऑपरेशन अब भारत में ही किये जाने लगे हैं। संजय अग्रवाल जैसे डॉक्टरों की मेहनत का ही नतीजा है कि हृदय की बीमारी अब लाइलाज नहीं रही। हृदय-रोग के इलाज से जुड़ी ऐसी कोई तकनीक नहीं रही, जिसका इस्तेमाल भारत में न किया जा रहा हो।

एक बेहद ख़ास मुलाक़ात में डॉक्टर संजय अग्रवाल ने हमें अपनी कामयाबी की कहानी के कई दिलचस्प पहलू बताये। अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं के बारे में जानकारी दी। यादगार क़िस्से भी सुनाये। संजय अग्रवाल ने बताया कि जब वे नौवीं कक्षा में थे, तभी उन्होंने यह फ़ैसला कर लिया था कि वे बड़े होकर डॉक्टर बनेंगे। फ़ैसला उनका अपना ख़ुद का था। न किसी ने उन्हें सुझाव दिया था, न किसी की ज़ोर-ज़बरदस्ती थी। लेकिन इस फ़ैसले के पीछे उस समय के हालात का असर था। उन दिनों हर कोई या तो डॉक्टर बनना चाहता था या फिर इंजीनियर। जो लोग मैथ्स में कमज़ोर होते थे, वे डॉक्टर बनने की सोचते थे। जब संजय अग्रवाल ने 1977 में अपने माता-पिता को यह बताया कि वे डॉक्टर बनना चाहते हैं, तो वे बहुत कुछ ख़ुश हुए। इतना ख़ुश हुए मानो वे यह बात सुनने के इंतज़ार में ही बैठे हों। संजय अग्रवाल के फ़ैसले का सभी ने तहेदिल से स्वागत किया और उन्हें अपनी शुभकामनाएँ दीं। सभी ने प्रोत्साहित किया। लेकिन जब डॉक्टरी की पढ़ाई के समय उन्होंने फिर ख़ुद से एक फ़ैसला किया, तब सभी चौंक गये। सभी ने इस फ़ैसले का विरोध किया और हतोत्साहित करने वाली बातें कहीं। माता-पिता, रिश्तेरदारों और दोस्तों-सभी ने नेगेटिव कमेंट्स किये थे। पहली बार की तरह ही इस बार भी न किसी ने उन्हें सुझाव दिया था और न किसी की ज़ोर-ज़बरदस्ती थी। लेकिन इस बार के फ़ैसले की एक बड़ी ख़ास बात थी। संजय अग्रवाल ने इस बार उस समय के हालात को देखकर फ़ैसला नहीं किया था। उनका फ़ैसला ट्रेंड के बिल्कुल विपरीत था। सभी को हैरान करने वाला संजय अग्रवाल का यह फ़ैसला था - कार्डियक-सर्जन बनना यानी दिल का ऑपेरशन करने वाला डॉक्टर।

उस समय इस फ़ैसले पर हैरानी जतना स्वाभाविक भी था। उस समय लोग हृदय की बीमारी को सबसे ख़तरनाक और जानलेवा मानते थे। अगर किसी को हृदय की बीमारी हो गयी है, तो यह माना जाता कि उस व्यक्ति का अंत समय निकट आ गया है। हृदय के ऑपेरशन का सीधा मतलब होता, अंत समय। हृदय के ऑपेरशन को जान बचाने की आख़िरी कोशिश समझा जाता। ऐसे हालात में संजय अग्रवाल ने कार्डियक-सर्जन बनने का फ़ैसला लिया था। संजय अग्रवाल ने बताया, "मैं लोगों से अलग करना चाहता था। मन में एक अजीब-सी उमंग थी। मैंने सोचा कि हृदय के जिस ऑपेरशन को लोग बड़ी चुनौती और मुश्किल काम मानते हैं, मैं उस काम को सीखूँ और करूँ। मेरे मन में उस वक़्त दो ही ख़याल थे - पहला, सर्जिकल लाइन में जाना और दूसरा, हृदय का ऑपेरशन करने वाला डॉक्टर बनना।" संजय अग्रवाल ने आगे बताया, "उस समय कार्डियक-सर्जन बनने के लिए हालात उत्साहजनक नहीं थे। भारत में सिर्फ़ दो ही जगह दिल के

ऑपरेशन किये जा रहे थे। उन दिनों दिल्ली के एम्स और वेल्लोर के क्रिस्चियन मेडिकल कॉलेज में ही दिल के ऑपरेशन मुमकिन थे। ऑपरेशन की पद्धति भी बहुत पुरानी थी। सबसे बड़ी परेशानी ट्रेनिंग की थी। कार्डियक सर्जरी की ट्रेनिंग की सही सुविधा बहुत कम जगह थी। नये डॉक्टर इसी वजह से कार्डियक-सर्जन बनना नहीं चाहते थे।"

एक सवाल के जवाब में संजय अग्रवाल ने बताया कि उनके साथ 196 विद्यार्थियों ने एमबीबीएस का कोर्स किया था। इनमें से सिर्फ़ चार ने आगे चलकर सुपर-स्पेशेलिटी का कोर्स चुना और इन चार लोगों में वे एक थे। संजय अग्रवाल ने कार्डियक-सर्जरी को चुना, तो दूसरे ने प्लास्टिक सर्जरी को अपना पेशा बनाया। तीसरा न्यूरो फिज़िशियन बना, तो चौथा नफरोलोगिस्ट यानी गुर्दों का डॉक्टर। यानी 196 में सिर्फ़ चार लोगों ने सबसे जुदा और सबसे मुश्किल राह चुनी थी।

वाकई संजय अग्रवाल के लिए भी आगे की राह मुश्किल थी। जिस समय उन्होंने ह्रदय के ऑपरेशन करने शुरू किये थे, उन दिनों मरीज़ भी ऑपरेशन पर विश्वास नहीं करते थे। एक तरफ़ ऐसे अस्पताल बहुत कम थे, जहाँ ह्रदय के ऑपरेशन होते थे, वहीं दूसरी तरफ़ जिन अस्पतालों में ऑपरेशन होते थे, वहाँ ऑपरेशन की पद्धति पुरानी थी। अस्पतालों में आज के जैसे आधुनिक उपकरण नहीं थे।

हैदराबाद के अपोलो अस्पताल परिसर में हुई इस बातचीत के दौरान संजय अग्रवाल ने यह भी बताया कि नब्बे दशक की शुरुआत में हालात सुधरने लगे थे। नयी तकनीकें ईजाद की जाने लगी थीं। अलग-अलग देशों के बीच टेक्नोलॉजी का भी आदान-प्रदान होने लगा था। जैसे-जैसे भारतीय डॉक्टर नयी-नयी और अत्याधुनिक तकनीक का इस्तेमाल करने लगे, वैसे-वैसे भारत में कार्डियक-सर्जरी के प्रति विश्वास बढ़ता गया। साथ ही कार्डियक-सर्जनों का भी सम्मान बढ़ा।

संजय अग्रवाल बताते हैं, "पहले दिल की बीमारी लाइलाज मानी जाती थी। अब दिल की जटिल से जटिल बीमारी पूरी तरह से ठीक की जा सकती है। भारत में कार्डियक-सर्जरी के लिए अत्याधुनिक उपकरण और तकनीकें मौजूद हैं।"

अपनी ज़िंदगी के पहले हार्ट ऑपरेशन की यादें ताज़ा करते हए संजय अग्रवाल ने बताया, "बाईस साल का एक युवा मरीज़ था। उसके दिल में छेद था। मैंने दो घंटे तक ऑपरेशन किया। दिल के छेद को बंद किया। ऑपरेशन कामयाब हुआ।" संजय अग्रवाल जब उस पहले ऑपरेशन के बारे में बता रहे थे उनके चेहरे पर ख़ुशी साफ़ छलक रही थी। चेहरे पर मुस्कान से साथ उन्होंने यह भी कहा, "उस

ऑपरेशन को बीस साल हो गये हैं। वह आदमी आज भी मेरे पास रिव्यु के लिए आता है। उसकी सेहत देखकर मुझे बड़ी ख़ुशी होती है।" एक सवाल के जवाब में संजय अग्रवाल ने बताया कि पहले ऑपरेशन के समय उनमें एक अलग-सा थ्रिल था। थोड़ी नर्वसनेस भी थी। जब ऑपरेशन कामयाब हो गया, तब उन्हें लगा कि मील का एक बड़ा पत्थर पार हो गया है। ऑपरेशन की कामयाबी ने उनका विश्वास बढ़ाया था और बहुत ख़ुशी दी थी।

संजय अग्रवाल अब तक पाँच हज़ार से ज़्यादा ह्रदय के ऑपरेशन कर चुके हैं। उनका ज़ोश और उनकी उमंग अब भी पहले की तरह बरकरार है। विश्वास अटूट है। कामयाब ऑपरेशनों का सिलसिला जारी है। वे कहते हैं, "मैं मानता हूँ कि ठहराव कुछ और नहीं, बल्कि गिरावट है। चलते रहना और लगातार ऊपर बढ़ते रहना ही कामयाबी है। इसीलिए मैं रुकना नहीं चाहता। मेरी कोशिश रहती है कि मैं लगातार बढ़ता रहूँ। जिस स्तर पर हूँ, उससे आगे दूसरे स्तर पर पहुँचने की कोशिश करता हूँ।" एक और सवाल के जवाब में संजय अग्रवाल ने बताया, "उनके लिए कामयाबी का मतलब इलाज के बाद मरीज़ों के चेहरे पर आने वाली मुस्कान है। और उनके जीवन का भी मक़सद यही है कि वे ज़्यादा से ज़्यादा मरीज़ों का इलाज कर उनके जीवन में फिर से ख़ुशियाँ भर सकें।"

संजय अग्रवाल अमेरिका के डेंटन कूली और भारत के नरेश त्रेहन की कामयाबियों से बहुत प्रभावित हैं और इन दोनों हार्ट सर्जनों को अपना आदर्श और प्रेरणा का स्रोत मानते हैं। आज के दौर के लोगों को सलाह देते हए संजय अग्रवाल कहते हैं, "मैं तो हर एक से यही कहूँगा - फॉलो योर पैशन। इस बात की परवाह मत करो कि दूसरे क्या कह रहे हैं। लोगों का काम है कहना और वे कहते रहेंगे। दूसरों की बातों में आकर पैशन को कभी मत छोड़ो और अपने लक्ष्य को हासिल करो।"

संजय अग्रवाल के जीवन का एक और बड़ा और दिलचस्प पहलू उनकी पढ़ाई वाले मेडिकल कॉलेज और उनके काम वाले हॉस्पिटल से जुड़ा है। उन्होंने एक ही कालेज से एमबीबीएस, एमएस और एमसीएच की पढ़ाई की। संजय अग्रवाल ने कानपुर के गणेश शंकर विद्यार्थी मेडिकल कॉलेज से ये तीनों बड़ी डिग्रीयाँ हासिल कीं। अपनी पढ़ाई और ट्रेनिंग पूरी करने के बाद 1994 में वे हैदराबाद आये और तब से लेकर आजतक वे एक ही अस्पताल में अपनी सेवाएँ दे रहे हैं। क़रीब बाईस साल पहले हैदराबाद के अपोलो अस्पताल से जुड़ा नाता अब भी जस का तस बरकरार है।

बातचीत के दौरान ही संजय अग्रवाल ने हमसे अपने जीवन के सबसे चुनौती भरे ऑपरेशन की जानकारी भी साझा की। उन्होंने बताता, "कैथ लैब में एक युवा

मरीज़ का कॉरोनरी एंजियोग्राम चल रहा था। अचानक उसके दिल ने काम करना बंद कर दिया। सभी हैरान-परेशान हो गये। हमने आर्टिफिशियल सर्कुलेशन और कार्डिओ पल्मोनरी मसाज के ज़रिये उसके दिल को फिर से काम करवाने की कोशिश शुरू की। इस कोशिश के दौरान ही हम उसे ऑपरेशन थिएटर ले गये। वहाँ उसकी बाइपास सर्जरी की गयी। ऑपरेशन कामयाब रहा। ऑपेरशन के अगले दिन मरीज़ बिल्कुल ठीक हो गया। कइयों के लिए यह मिरकल था। यह एक ऐसा ऑपरेशन था, जो मुझे हमेशा याद रहेगा।"

संजय अग्रवाल की पत्नी कविता भी डॉक्टर हैं। वे बच्चों की डॉक्टर और शिशु-रोग विशेषज्ञ हैं। संजय और कविता की दो लड़कियाँ हैं। संजय अग्रवाल के पिता एस.के. अग्रवाल उत्तरप्रदेश में इलेक्ट्रिसिटी बोर्ड के लिए काम करते थे। जेनरेशन कॉरपोरेशन में एक बड़े पद पर रहते हुए उनकी सेवा-निवृत्ति हुई। माँ उषा अग्रवाल गृहिणी थीं। उनके बड़े भाई अनूप ने भी ख़ूब पढ़ाई की। वे अमेरिका में कंप्यूटर साइंस के प्रोफ़ेसर हैं। चूँकि पिता सरकारी सेवा में थे, उनका तबादला होता रहता था। यही वजह थी कि संजय अग्रवाल की पढ़ाई गोरखपुर, लखनऊ, कानपुर जैसे अलग-अलग शहरों में हुई।

संजय अग्रवाल ने इंटरमीडिएट की पढ़ाई के बाद जब मेडिकल कॉलेज की प्रवेश परीक्षा दी, तब उत्तरप्रदेश में एमबीबीएस की केवल 700 सीटें थीं। इन सात सौ सीटों के लिए 54000 से ज़्यादा विद्यार्थियों ने परीक्षा दी थी। लेकिन संजय अग्रवाल ने कुछ इस तरह मन लगाकर तैयारी की थी कि उन्हें अपने पहले ही एटेम्पट में एमबीबीएस की सीट मिल गयी।

ऑपरेशन थिएटर की रोशनी में मस्तिष्क की सर्जरी करने वाले डॉ. रंगनाथम कभी लालटेन की रोशनी में पढ़ाई करने को थे मजबूर

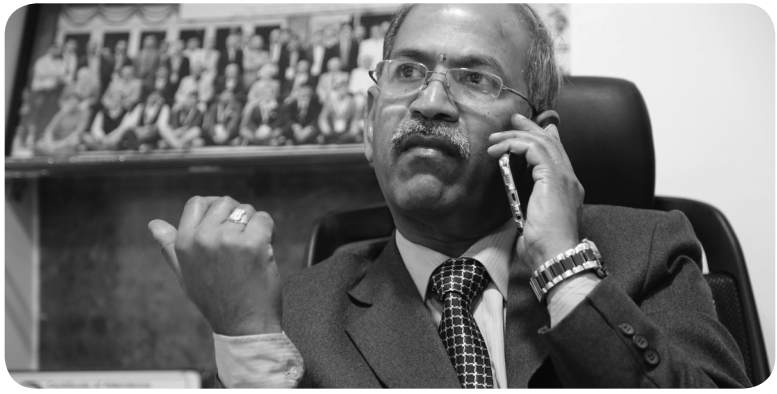

ग़रीब परिवार में जन्मा एक बच्चा जब अपने गाँव के दूसरे ग़रीब और बीमार लोगों को इलाज के इंतज़ार में तड़पता देखता, तो उसका मन पसीज जाता। गाँव में प्राथमिक चिकित्सा केंद्र तो था, लेकिन वहाँ कोई डॉक्टर नहीं आता था। दर्द कम हो या ज़्यादा, बीमारी छोटी हो या बड़ी, इलाज के लिए गाँववालों को पाँच किलोमीटर दूर ज़िला मुख्यालय के अस्पताल जाना पड़ता। कई लोगों के पास तो इतने पैसे भी नहीं होते थे कि वे कोई साधन कर ज़िला अस्पताल जाएँ। शायद ग़रीबी ही सबसे बड़ी बीमारी थी। इस बच्चे ने इलाज न करा पाने की वजह से कई लोगों को तड़प-तड़प कर मरते देखा था।

बच्चा दिमाग़ से बहुत तेज़ था। पढ़ने-लिखने में होशियार था। उसने गाँव वालों की बेबसी और लाचारी को देखकर ठान लिया था कि वह डॉक्टर बनेगा और गाँववालों का इलाज करेगा। इरादा इतना बुलंद था कि उसने लक्ष्य हासिल करने में कोई कसर बाक़ी नहीं छोड़ी। न ग़रीबी को, और न ही अपने ग्रामीण परिवेश को अपनी लक्ष्य-साधना में आड़े आने दिया। स्कूल-कॉलेज की हर परीक्षा में वह शानदार अंकों से पास होता गया। उसने दसवीं पास की। स्टेट रैंक हासिल किया। गाँव से दूर, बड़े शहर में, राज्य के सबसे मशहूर कॉलेज में दाख़िले की योग्यता हासिल की। उसने मेडिकल कॉलेज की प्रवेश परीक्षा भी पहले ही एटेम्पट में क्लियर की। एमबीबीएस कोर्स पूरा किया। फिर देश की राजधानी जाकर वहाँ एम्स से न्यूरो-सर्जरी के बेहतरीन तौर-तरीक़े सीखे। इसके बाद हैदराबाद आकर प्रैक्टिस शुरू

की। आज उनकी गिनती देश के सबसे नामचीन और सिद्धहस्त न्यूरो सर्जनों में होती है। ग़रीबी का असर उस बच्चे पर ऐसा पड़ा था कि उसने दिमाग़ का डॉक्टर बनने के बाद ही चैन की साँस ली।

जिस बच्चे और डॉक्टर की यहाँ बात हुई है, वे भारत-भर में विख्यात न्यूरो सर्जन डॉ. पैडी पेद्दीगारी रंगनाथम हैं। रंगनाथम का जन्म आंध्रप्रदेश के श्रीकाकुलम ज़िले के किंतलि गाँव में हुआ। पिता ग़रीब किसान थे। माँ घर-परिवार की ज़िम्मेदारियाँ संभालने के साथ-साथ खेती-बड़ी के काम में पिता का हाथ बटाती थीं। घर के नाम पर बस एक कमरा था, जिसमें माँ-बाप और सभी पाँच बच्चे रहते थे। रसोई-घर, आराम-घर, स्नान-घर सब एक कमरे में ही समाये थे। रंगनाथम के माता-पिता-दोनों अशिक्षित थे। रंगनाथम के दो भाई और दो बहनें हैं। पाँच भाई-बहनों में रंगनाथम सबसे छोटे हैं। एक बड़ा भाई ही किसी तरह से दसवीं पार लगा पाया था। कम्पार्टमेंट एग्जाम में उसने अपने बचे पेपर निकाल लिये थे। चूँकि परिवार में इतनी आमदनी नहीं थी कि बच्चों को स्कूल भेजा जा सकते और पढ़ाई-लिखाई के लिए ज़रूरी कलम-दवात, किताबें खरीदी जा सकें, दो बच्चों को छोड़कर सभी ड्रॉपआउट हो गये थे। रंगनाथम ख़ुशनसीब थे कि उन्हें स्कूल भेजा गया। उन्होंने गाँव के सरकारी स्कूल में पढ़ाई की। सरकारी स्कूल की हालत भी उनके घर-परिवार जैसी ही थी। रंगनाथम को स्कूल में भी मिट्टी से सनी ज़मीन पर बैठकर पढ़ने-लिखने को मजबूर होना पड़ा था। लेकिन रंगनाथम आम बच्चों की तरह नहीं थे। वे बहुत होशियार थे, समझदार थे। उनकी स्मरण-शक्ति ग़ज़ब की थी। एक बार जब मास्टर क्लास-रूम की ब्लैकबोर्ड पर कोई पाठ लिख देते, तो वह सारा पाठ रंगनाथम को याद हो जाता। मास्टर कुछ भी पढ़ते या सुनाते, रंगनाथम उसे याद रख लेते थे। स्कूल के सभी मास्टर रंगनाथम की प्रतिभा से बहुत प्रभावित थे। शिक्षकों ने रंगनाथम के कौशल, उनके गुण और उनकी क्षमता, प्रतिभा और तेज़ बुद्धि को देख-परख कर यह भविष्यवाणी कर दी थी कि बच्चा बड़ा होकर ज़रूर बड़ा आदमी बनेगा। शिक्षकों और दूसरे लोगों से रंगनाथम की तारीफ़ सुनकर माता-पिता फूले नहीं समाते थे। होनहार रंगनाथम ने माता-पिता के मन में नयी उम्मीदें जगायी थीं। माता-पिता को यह भरोसा हुआ था कि बेटा बड़ा आदमी बनकर ग़रीबी और दुख-दर्द दूर करेगा।

रंगनाथम ने अपनी ओर से कोई कसर बाक़ी नहीं छोड़ी। ख़ूब मन लगाकर पढ़ाई की। क्या दिन और क्या रात, पढ़ाई-लिखाई का कोई मौक़ा नहीं गँवाया। गाँव उनका पिछड़ा था, इस वजह से घर पर बिजली नहीं थी। लेकिन अँधेरा भी उनकी पढ़ाई को नहीं रोक पाया। उन्होंने कंदील की रोशनी में पढ़ाई की। रंगनाथम की

मेहनत रंग लायी। आगे चलकर उनकी तेज़ बुद्धि का परिचय राज्य-भर के लोगों को हो गया। दसवीं की परीक्षा में रंगनाथम को राज्य-भर में तीसरा रैंक मिला। एक बहुत ही पिछड़े गाँव का एक ग़रीब लड़का सुर्ख़ियों में आ गया। हर तरफ़ रंगनाथम की तारीफ़ हुई। चूँकि स्टेट रैंकर थे, इस वजह से रंगनाथम को मनचाहे कॉलेज में दाख़िला मिल गया। उन्होंने इंटरमीडिएट की पढ़ाई के लिए विजयवाड़ा के आंध्रा लॉयला कॉलेज को चुना। रंगनाथम ने बताया, "जब मैं स्कूल में था, तभी मैंने सुना था कि आंध्रा लॉयला कॉलेज राज्य का नंबर वन कॉलेज है। इस कॉलेज में जिसे भी दाख़िला मिलता है, वह ज़रूर इंजीनियर या डॉक्टर बनता है। मैं भी डॉक्टर बनना चाहता था। जब मुझे स्टेट में थर्ड रैंक मिला, तब मैंने आंध्रा लॉयला कॉलेज को चुना और चूँकि डॉक्टर बनना चाहता था, मैंने इंटरमीडिएट में बॉयोलॉजी, फिज़िक्स और केमिस्ट्री विषय चुने।" ख़ास बात यह भी है कि अपने गाँव की बुरी हालत और वहाँ के प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र की दुर्दशा का रंगनाथम पर कुछ इस तरह असर पड़ा था कि उन्होंने डॉक्टर बनने की ठान ली थी। उन दिनों गाँववालों को इलाज के लिए दूर-दूर जाना पड़ता था। दर-दर ठोकरें खाने के बाद भी उनका सही इलाज नहीं हो पाता था। गाँववालों की तकलीफ़ों का रंगनाथम के मन-मस्तिष्क पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा था।

आंध्रा लॉयला कॉलेज के शुरुआती दिनों में रंगनाथम को कई तरह की अजीब-अजीब समस्याओं का सामना करना पड़ा था। वे अंग्रेज़ी मीडियम से पढ़ना चाहते थे। चूँकि उन्होंने दसवीं तक की पढ़ाई तेलुगु मीडियम से की थी, उन्हें इंटरमीडिएट के लिए भी तेलुगु मीडियम में ही रखा गया। रंगनाथम थोड़ा निराश तो हुए, लेकिन उनका ज़ोश कम नहीं हुआ। इरादे वही थे, हौसले बुलंद रहे। लक्ष्य नहीं बदला। आंध्रा लॉयला कॉलेज में जब पहले साल तिमाही की परीक्षा हुई, उसमें रंगनाथम के नंबर सबसे ज़्यादा थे। नंबर के मामले में रंगनाथम ने इंग्लिश मीडियम के बच्चों को भी पछाड़ दिया था। सभी अब रंगनाथम का लोहा मानने लगे थे।

एक और बड़ी दिक़्क़त आयी थी रंगनाथम के सामने। उन दिनों नक्सली आंदोलन ज़ोरों पर था और हर तरफ़ उसकी चर्चा थी। रंगनाथम श्रीकाकुलम ज़िले से थे और उस समय वह जगह नक्सली आंदोलन का गढ़ था। आंध्रा लॉयला कॉलेज में कुछ शरारती बच्चे उन्हें 'श्रीकाकुलम का नक्सली' कह कर पुकारते थे और सताते थे। लेकिन परीक्षा में अपने अव्वल नंबर से रंगनाथम ने सभी की बोलती बंद करा दी।

रंगनाथम भगवान को बहुत मानते थे। धर्म में विश्वास था। इसी वजह से वे माथे पर 'नामम' यानी तिलक लगाते थे। चूँकि ग़रीब परिवार से थे, हवाई चप्पल

और कॉटन की शर्ट-पैंट पहनते थे। तिलक, हवाई चप्पल और कॉटन की शर्ट-पैंट ही उनकी पहचान बन गये थे।

आंध्रा लॉयला कॉलेज में पढ़ाई के लिए उन्हें हॉस्टल में रहना पड़ा था। विजयवाड़ा शहर उनके गाँव से बहुत दूर था। कॉलेज के शुरुआती दिनों में उन्हें अपने माँ-बाप, भाई-बहन, गाँव, गाँववाले - सभी बहुत याद आते थे। वे अपने आप को अकेला भी महसूस करने लगे थे। शहरी जीवन को अपनाने में उन्हें खासा समय भी लगा। लेकिन उन्हें इस बात की ख़ुशी थी कि हॉस्टल में उन्हें समय पर भोजन मिल जाता था। वहाँ पढ़ाई-लिखाई की अच्छी सुविधा थी। शिक्षा के सबसे अच्छे इंतज़ाम और साधन थे। टीचर भी काफ़ी विद्वान और मददगार थे।

बड़ी बात यह भी थी कि इंटरमीडिएट की पढ़ाई के लिए उन्होंने अपने माता-पिता पर कोई बोझ नहीं पड़ने दिया था। चूँकि दसवीं की परीक्षा में थर्ड रैंक हासिल किया था, उन्हें नेशनल मेरिट स्कॉलरशिप मिली थी। स्कॉलरशिप की रक़म से ही कॉलेज में उनके सारे काम होने लगे। फ़ीस जमा हो जाती, मेस का ख़र्चा निकल जाता था। इंटरमीडिएट की पढ़ाई के दौरान रंगनाथम ने मेडिकल कॉलेज में दाख़िले के लिए होने वाली प्रवेश परीक्षा लिखी। उम्मीद के मुताबिक़ बढ़िया रैंक आया और वे मेडिकल कॉलेज में दाख़िले के लिए योग्य करार दिये गये। उस दिन को याद करते हुए रंगनाथम बहुत भावुक हो जाते हैं। उनके आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं। वे कहते हैं, "उस दिन सारा गाँव मेरे घर के पास आ गया था। सभी बहुत ख़ुश थे। एक ग़रीब घर का लड़का डॉक्टर बनने जा रहा था।"

प्रवेश परीक्षा पास करने के बाद रंगनाथम ने विशाखापट्टनम के आंध्रा मेडिकल कॉलेज में दाख़िला लिया। हमेशा की तरह ही यहाँ भी ख़ूब मन लगाकर पढ़ाई की। हर साल अच्छे नंबरों से हर परीक्षा पास की। जब एमबीबीएस कोर्स के दौरान इंटर्नशिप का वक़्त आया, तब रंगनाथम ने सभी को चौंकाने वाला एक फ़ैसला लिया। रंगनाथम ने ट्रेनिंग के लिए 'न्यूरो-सर्जरी' को चुना। उन दिनों बहुत कम डॉक्टर 'न्यूरो-सर्जरी' चुनते थे। रंगनाथम ने बताया, "अस्सी के दशक की शुरुआत में जब मैंने न्यूरो-सर्जरी को अपना मुख्य विषय बनाया, तब कई लोगों ने मज़ाक भी उड़ाया। वैसे भी उन दिनों में यह माना जाता था कि जो मरीज़ न्यूरो-सर्जरी के लिए भेजा जाता था, उसके दिन बहुत ही कम बचे हैं। न्यूरो-सर्जरी का मतलब था जान बचाने की आख़िरी कोशिश। लोग मज़ाक करते हुए कहते थे कि न्यूरो-सर्जरी के लिए मरीज़ सीधे खड़े होकर जाता है और लेटा हुआ ऑपरेशन थिएटर से बाहर आता है, यानी ज़िंदा जाता है और मरा हुआ वापस आता है। उन दिनों न्यूरो-सर्जरी

के लिए बड़े-बड़े अच्छे उपकरण नहीं थे, जैसे कि आज हैं।" रंगनाथम ने आगे कहा, "न्यूरो-सर्जरी के लिए जो मरीज़ भेजे जाते थे, उनकी हालत बहुत बुरी होती थी। किसी के हाथ-पाँव गिरे होते थे, तो किसी की आवाज़ गायब होती थी। किसी का दिमाग़ काम करना बंद कर देता था। मैंने देखा था कि कुछ डॉक्टर ऐसे थे, जो ऐसे परेशानहाल और विकलांग हो चुके मरीज़ों को बिल्कुल ठीक कर देते थे। मैंने ठान लिया था कि मैं भी यही चुनौती स्वीकार करूँगा।"

एमबीबीएस की पढ़ाई पूरी करने के बाद रंगनाथम ने 1981 में अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान यानी 'एम्स' में दाख़िले के लिए प्रवेश परीक्षा लिखी। और हर परीक्षा की तरह की इस बार भी वे कामयाब हुए। 'एम्स' में दाख़िले के समय भी जब रंगनाथम ने वहाँ के प्रोफ़ेसरों को यह बताया कि वे न्यूरो-सर्जरी में निपुणता हासिल करना चाहते हैं, तब वहाँ के हेड ने उन्हें एक महीने तक का समय लेने और ठंडे दिमाग़ से सोचकर फ़ैसला लेने की हिदायत दी थी। इस एक महीने के दौरान रंगनाथम ने 'एम्स' में दूसरे विद्यार्थियों से साथ आउट पेशेंट वार्ड और दूसरी जगह काम किया। एक महीने बाद जब हेड ने पूछा कि फ़ैसला क्या है, तब भी रंगनाथम ने कहा - न्यूरो-सर्जरी। रंगनाथम के दूसरे गुरुओं ने भी फ़ैसले पर पुनर्विचार करने को कहा था। लेकिन रंगनाथम अडिग थे। वे मन बना चुके थे। इरादा पक्का था।

रंगनाथम आज देश के सबसे मशहूर न्यूरो-सर्जनों में एक हैं। 61 साल के रंगनाथम अब तक मस्तिष्क और रीढ़ से जुड़े क़रीब उन्नीस हज़ार ऑपरेशनों में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा चुके हैं। उन्हें इस संख्या पर नहीं, बल्कि ऑपरेशन की सक्सेस रेट पर गर्व है। रंगनाथम कहते है, "भगवान ने ही मुझे सब दिया है। हाथों का सफ़ा भी उसी की देन है। मैं हर ऑपरेशन से पहले भगवान से प्रार्थना करता हूँ कि मुझे मरीज़ को अच्छा करने में कामयाबी दे।" बतौर न्यूरो-सर्जन पहले ऑपरेशन के बारे में जब पूछा गया, तब रंगनाथम ने बताया कि एम्स में उन्होंने ज़िंदगी की पहली सर्जरी की थी। उस समय वे सीनियर रेसिडेंट और ड्यूटी डॉक्टर थे। रावत नाम के शख़्स का एक्सीडेंट हुआ था। उसकी हालत बहुत नाज़ुक थी। कई फ्रैक्चर हुए थे। दिमाग़ में भी बड़ी चोट लगी थी। कंसल्टेंट ने रंगनाथम को ऑपेरशन करने के लिए कहा था। ऑपरेशन कामयाब हुआ और मरीज़ बच गया। रंगनाथम ने कहा, "मेरे लिए अच्छी शुरुआत हुई थी। मेरा विश्वास बढ़ा।"

अब तक के सबसे जटिल और चुनौती-भरे ऑपेरशन के बारे में भी रंगनाथम ने हमें बताया। बहुत पहले उनके पास वेंकटरमणा नाम का एक मरीज़ आया था। उसके ब्रेन में ट्यूमर था। ट्यूमर बड़ा था। छोटे-छोटे टुकड़े करकर उन्हें ट्यूमर

निकालने थे। पूरे पंद्रह घंटों तक उन्होंने ऑपेरशन किया। इस दौरान एक भी मिनट उन्होंने रेस्ट नहीं लिया। लगातार पंद्रह घंटों तक उन्होंने काम करते हुए ट्यूमर का खात्मा किया। रंगनाथम कहते हैं, "बीस साल से ज़्यादा हो गये हैं उस ऑपरेशन को किये हुए। वेंकटरमणा आज भी मेरे पास रिव्यु के लिए आता है। उसको देखकर मुझे बड़ी ख़ुशी होती है।"

'एम्स' से मेडिकल की उच्च स्तरीय शिक्षा और डिग्री हासिल करने के बाद रंगनाथम हैदराबाद आये और यहाँ उन्हें सरकारी अस्पताल निज़ाम्स इंस्टिट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज यानी 'निम्स' में नौकरी मिल गयी।

बतौर कंसल्टेंट (न्यूरो-सर्जरी) उन्होंने काम शुरू किया। लेकिन कुछ साल काम करने के बाद उन्होंने सरकारी नौकरी छोड़ दी और कॉर्पोरेट हॉस्पिटल में अपनी सेवाएँ देने लगे। रंगनाथम ने सरकरी अस्पताल छोड़ने के उस फ़ैसले को अपनी ज़िंदगी का सबसे चुनौती-भरा फ़ैसला बताया। रंगनाथम ने कहा, "मैं नहीं चाहता था कि सरकारी अस्पताल छोड़ दूँ। लेकिन हालात कुछ ऐसे थे कि मैंने कॉर्पोरेट हॉस्पिटल ज्वाइन करने का फ़ैसला लिया। उसी समय हमें लड़का हुआ था। मुझे लगता था कि सरकारी नौकरी करते हुए मैं ठीक तरह से अपने बच्चे की परवरिश नहीं कर पाऊँगा। मैं नहीं चाहता था कि मेरे बच्चे की पढ़ाई-लिखाई में रुपये-पैसों की दिक़्क़त आये। बच्चे की खातिर मैंने 'निम्स' को छोड़ दिया।"

1992 में रंगनाथम यशोदा अस्पताल से जुड़े। कई सालों तक उन्होंने यशोदा अस्पताल में अपनी सेवाएँ दीं। अब उनका बच्चा बड़ा हो गया है और वह भी डॉक्टर बनने को तैयार है। अपने पिता की तरह उसने न्यूरो-सर्जरी नहीं, बल्कि कार्डियक सर्जरी को चुना है। यानी वे पिता की तरह मस्तिष्क का नहीं, बल्कि दिल का ऑपरेशन करेंगे। एक सवाल के जवाब में रंगनाथम ने कहा कि ज़रूरी नहीं कि हर कोई न्यूरो-सर्जरी ही चुने। डॉक्टरी बहुत अच्छा और सम्मानजनक पेशा है। डॉक्टर लोगों की जान बचाते हैं। मेरी तो सलाह है कि नये लोग हर तरह के डॉक्टर बनें। कोई आँख का बने, कोई नाक-कान का। हर तरह के डॉक्टर होने चाहिए। मैं तो यही कहूँगा कि जिसे जिस काम में आनंद मिलता है, उसे वही काम करना चाहिए।

रंगनाथम की एक और बड़ी ख़ास और बेहद दिलचस्प बात है। वह यह कि, दूसरे कई डॉक्टरों के उलट, वे ज्योतिष-शास्त्र में विश्वास रखते हैं। वे ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर मरीज़ के ऑपेरशन का समय चुनते हैं। रंगनाथम कहते हैं, "भारत में कई काम ज्योतिष के आधार पर किये जाते हैं। बच्चों का अक्षर-अभ्यास करवाने के लिए ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर सही समय निकाला जाता है। हर शादी के

लिए मुहूर्त तय किया जाता है। यहाँ तक कि भारत में राजनेता चुनाव के समय अपना नामांकन भी सही मुहूर्त के आधार पर ही करते हैं। ऐसे में ऑपेरशन के लिए ज्योतिष-शास्त्र के आधार पर सही समय चुनना कहाँ से ग़लत होगा।" लेकिन रंगनाथम अपनी बातों में यह बात जोड़ने से नहीं चूकते कि इमरजेंसी केसों में मुहूर्त नहीं देखा जाता। जान बचाना ज़रूरी होता है। रंगनाथम ने बताया कि कई मरीज़ मंगलवार के दिन ऑपरेशन करवाने को अमंगल मानते हैं। इतना ही नहीं, कई लोग अमावस्या के दिन ऑपरेशन नहीं करवाते। महिलाएँ भी पीरियड्स के समय ऑपरेशन से इंकार कर देती हैं।

रंगनाथम मानते हैं कि उन्हें उनके गाँव के हालात ने ही डॉक्टर बनने के लिए प्रेरित किया था। और यही वजह भी है वे अपने गाँव ही नहीं, बल्कि पूरे श्रीकाकुलम ज़िले से उनके पास इलाज के लिए आने वाले मरीज़ों से फीस नहीं लेते। सर्जरी तक बिना फीस लिये ही करते हैं।

मरीज़ों के 'सौमित्र' हैं डॉ. रावत

बारह साल तक नयी दिल्ली के मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज से जुड़े रहने के बाद डॉ. सौमित्र रावत इंग्लैंड चले गये थे। सत्रह साल तक इंग्लैंड में अपनी सेवाएँ देने के बाद वे भारत लौट आये। उनके भारत वापस आने के पीछे एक घटना थी। उनके पिता की सेहत अचानक बिगड़ गयी थी, माँ भी उम्रदराज़ हो गयी थीं और चूँकि सौमित्र इकलौते लड़के थे, वे अपने माता-पिता की सेवा करने के लिए स्वदेश लौट आये। सौमित्र ने जिस समय भारत लौटने का फ़ैसला लिया था, उस समय इंग्लैंड में उनकी लोकप्रियता शिखर पर थी। उनकी गिनती सिर्फ़ इंग्लैंड के ही नहीं, बल्कि दुनिया के श्रेष्ठ शल्य-चिकित्सकों में होने लगी थी। इंग्लैंड में शोहरत के साथ-साथ वे धन-दौलत भी ख़ूब कमा रहे थे। लेकिन माता-पिता और मातृभूमि की सेवा करने का मज़बूत इरादा उन्हें स्वदेश ले आया। सौमित्र रावत स्वदेश क्या लौटे, वे अपने साथ भारत में नयी क्रांति लेकर आये। उन्होंने भारत में चिकित्सा-जगत, ख़ास तौर पर, शल्य-चिकित्सा को नये आयाम प्रदान किये। सौमित्र ने भारत में पेट, जिगर, आँत, अन्नप्रणाली, मलाशय, पाचक-ग्रंथि जैसे शरीर के महत्वपूर्ण अंगों से जुड़ी छोटी-बड़ी बीमारियों के इलाज की अत्याधुनिक शल्य-चिकित्सा पद्धतियों को भारत में शुरू करवाया। पाचन-क्रिया से संबंधित जिन बीमारियों का इलाज भारत में मुमकिन नहीं था, वह इलाज मुमकिन करवाया। सौमित्र ने यह भी सुनिश्चित

किया कि जिगर प्रत्यारोपण के लिए सबसे उत्कृष्ट चिकित्सा-तकनीक भारत में अपनायी जाय। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी सुनिश्चित किया कि पाचन-क्रिया से जुड़ी बीमारियों के इलाज में सबसे सुरक्षित और बेहतरीन तकनीकों और चिकित्सा-पद्धतियों का भारत में भी इस्तेमाल हो। दुनिया के सबसे उम्दा चिकित्सा-संस्थानों में अपने अनुभव और वहाँ प्रशिक्षण से हासिल की दक्षता का भरसक इस्तेमाल भारत में करते हुए उन्होंने चिकित्सा-क्षेत्र को नये मुकाम पर पहुँचाया।

कड़ी मेहनत, दृढ़ संकल्प और समाज-सेवा की अमिट भावना के बल पर कामयाबी की एक बहुत ही सुंदर कहानी लिखने वाले डॉ. सौमित्र रावत के जीवन के कई सारे पहलू बेहद मोहक और रोचक हैं। ग़रीबी से जूझते एक इलाक़े के बहुत ही पिछड़े गाँव में पैदा हुए सौमित्र रावत की सारी पढ़ाई-लिखाई शहर में हुई। वे स्कूल और कॉलेज में कभी भी क्लास फर्स्ट नहीं आये, लेकिन अपने पहले ही एटेम्पट में मेडिकल कॉलेज में सीट हासिल कर ली। उन्होंने देश के उत्तम मेडिकल कॉलेजों में से एक, नयी दिल्ली के मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज से पहले एमबीबीएस और फिर एमएस - सर्जरी की डिग्री ली और फिर वहीं से रजिस्ट्रारशिप भी की। पिता से प्रेरणा लेकर सर्जन बने और दादा से प्रेरणा लेकर समाज-सेवी। 12 साल तक बतौर डॉक्टरी विद्यार्थी, डॉक्टर, शोधार्थी, रजिस्ट्रार के तौर पर मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज से जुड़े रहने के बाद सौमित्र इंग्लैंड गये और पाचन-क्रिया से संबंधित बीमारियों के इलाज की अत्याधुनिक तकनीकें सीखीं और फिर उन्हें दूसरों को भी सिखाने लगे। और जब सेवा-भाव उन्हें वापस स्वदेश खींच लाया, तब उन्होंने अपने पिता और दादा की तरह ही कामयाबी की नयी कहानी लिख डाली।

कामयाबी की एक सुंदर और प्रेरणादायक कहानी के नायक सौमित्र रावत का जन्म उत्तरप्रदेश के झाँसी ज़िले के सकरार गाँव में हुआ। सकरार गाँव बुंदेलखंड इलाक़े में पड़ता है। बुंदेलखंड काफ़ी पिछड़ा इलाक़ा है। पानी की क़िल्लत और सूखे की वजह से यहाँ काफ़ी ग़रीबी है। सौमित्र रावत का जन्म भले ही पिछड़े इलाक़े के एक गाँव में हुआ, लेकिन उनका परिवार संपन्न और शिक्षित था। उनके दादा अपने ज़माने के मशहूर शिक्षक और समाज-सेवी थे। शिक्षा के प्रति लोगों में जागरूकता लाने के लिए उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया था। उन्हीं की मेहनत और पहल की वजह से कई ग़रीब बच्चे स्कूल जाकर शिक्षा ले पाये थे। उनकी सेवाओं को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने उन्हें उत्कृष्ट सेवाओं के लिए शिक्षकों को दिये जाने वाले नेशनल अवार्ड से सम्मानित किया था। स्वयं राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने उन्हें साल 1959 में इस अवार्ड से नवाज़ा था। पुरस्कार समारोह

में तत्कालीन प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरु और उप-राष्ट्रपति सर्वेपल्ली राधाकृष्णन भी मौजूद थे।

सौमित्र के पिता महावीरशरण रावत डॉक्टर थे। माँ करुणा रावत गृहिणी थीं। तीन भाई-बहनों में सौमित्र सबसे छोटे थे। उनकी दो बड़ी बहनें हैं। सौमित्र ने बताया कि उनके पिता का जन्म भी सकरार गाँव में ही हुआ था। उन दिनों गाँव में स्कूल भी नहीं था और उनके पिता को पढ़ाई-लिखाई के लिए हर दिन 15 किलोमीटर दूर जाना पड़ता था। गाँव से स्कूल 15 किलोमीटर दूर था, लेकिन महावीरशरण में पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बनने का इरादा इतना मज़बूत था कि यह दूरी उनके लिए कोई मायने नहीं रखती थी। महावीरशरण ने स्कूल में ख़ूब मेहनत की। इसी मेहनत का नतीजा था कि वे डॉक्टर बने। आगे चलकर वे अपने दौर के बेहद लोकप्रिय और प्रसिद्ध सर्जन बने। महावीरशरण रावत ने निजी अस्पतालों में अपनी सेवाएँ देने के बजाय सरकारी अस्पतालों में काम करते हुए ग़रीब लोगों की सेवा करना का फ़ैसला लिया।

महावीरशरण ने राममनोहर लोहिया अस्पताल और पंडित दीनदयाल उपाध्याय अस्पताल में बतौर सर्जन लोगों का इलाज किया। उनकी पोस्टिंग त्रिपुरा की राजधानी अगरतला में भी हुई। महावीरशरण की अगरतला में पोस्टिंग के दौरान ही बांग्लादेश मुक्ति युद्ध हुआ था। यह युद्ध 25 मार्च से 16 दिसम्बर, 1971 तक चला था। इस युद्ध के दौरान भारत ने बांग्लादेश की मदद की थी। भारत और बांग्लादेश के सैनिकों ने मिलकर पाकिस्तान के सैनिकों के ख़िलाफ़ युद्ध किया था। इस युद्ध के दौरान कई सैनिकों की जान गयी, कई सैनिक ज़ख़्मी हुए। युद्ध में ज़ख़्मी हुए भारत और बांग्लादेश के कई सारे सैनिकों को इलाज के लिए अगरतला के सरकारी अस्पताल लाया जाता था। चूँकि महावीरशरण ही सर्जरी विभाग के मुखिया थे, उन्हीं की देख-रेख में ज़ख़्मी सैनिकों का इलाज किया जाता था। स्वयं महावीरशरण ने कई सारे ज़ख़्मी सैनिकों का इलाज किया।

युद्ध में ज़ख़्मी कई मरीज़ों की हालत काफ़ी ख़राब होती थी। दुश्मनों की गोलियों से कई सैनिकों के शरीर छलनी हुए थे, कई सैनिक दुश्मनों के गोलों से लहुलुहान हुए थे। किसी का हाथ कटा होता, तो किसी की टाँग कटी होती। कइयों के सर में गहरे घाव थे। दुश्मनों की गोलियाँ सैनिकों के शरीर को ख़त्म कर रही होतीं। हालत इतनी नाज़ुक होती कि फ़ौरी तौर पर इलाज या ऑपरेशन न किये जाने की हालत में सैनिकों की जान जा सकती थी। कई बार तो हालत ऐसी होती कि कई सारे ज़ख़्मी सैनिकों को इलाज के लिए एक साथ अस्पताल लाया जाता। ऐसी हालत

में सभी का इलाज एक साथ तो मुमकिन नहीं होता, लेकिन महावीरशरण ज़ख़्मी लोगों की हालत का मुआयना करने के बाद यह तय करते थे कि किस का ऑपरेशन पहले करना है। जिसकी हालत सबसे नाज़ुक है, उसका ऑपरेशन पहले किया जाता। जितने दिन युद्ध चला, अमूमन हर दिन महावीरशरण ने कई ज़ख़्मी सैनिकों का सही समय पर सही ऑपरेशन कर उनकी जान बचायी। सौमित्र रावत ने बताया कि उनके पिता महावीरशरण ने बांग्लादेश मुक्ति युद्ध के दौरान बीस हज़ार से ज़्यादा ज़ख़्मी सैनिकों का इलाज किया था। युद्ध के समय जिस तरह से उन्होंने ज़ख़्मी मरीज़ों का ऑपरेशन कर न केवल उनकी जान बचायी थी, बल्कि उन्हें अपाहिज होने से भी बचाया था, उसे पूरे विश्व में सराहा गया। वर्ल्ड हेल्थ आर्गेनाईजेशन ने उन्हें अपनी फ़ेलोशिप से सम्मानित किया। युद्ध के दौरान महावीरशरण की डॉक्टरी सेवाओं को एक 'केस स्टडी' के तौर भी लिया गया और देश-दुनिया के अलग-अलग चिकित्सा संस्थाओं में युद्ध के समय सैनिकों को होने वाले ज़ख़्म और उनके इलाज के बारे में डॉक्टरी विद्यार्थियों को सिखाया और समझाया गया। महावीरशरण को दुनिया की अलग-अलग संस्थाओं ने युद्ध के दौरान अपने अनुभव साझा करने के लिए भी निमंत्रण दिये। अलग-अलग जगह जाकर महावीरशरण ने डॉक्टरों को बांग्लादेश मुक्ति युद्ध के दौरान पेश आयी चुनौतियों के बारे में बताया।

सौमित्र रावत भी कई दिनों तक अपने पिता के साथ अगरतला में ही थे। लेकिन जब युद्ध शुरू हुआ, तब हालात के मद्देनज़र महावीरशरण ने अपनी पत्नी और बच्चों को अपने गाँव सकरार भिजवा दिया और ख़ुद देश की सेवा में लगे रहे। पिता की इसी देश-सेवा का गहरा असर बालक सौमित्र के मन-मस्तिष्क पर पड़ा। पिता के प्रभाव में सौमित्र ने भी डॉक्टर बनने की ठान ली। सौमित्र ने भी फ़ैसला कर लिया कि वे भी अपने पिता की तरह ही सर्जन बनेंगे और लोगों की जान बचायेंगे।

युद्ध के समय ही नहीं, बल्कि सामान्य समय में भी महावीरशरण ने कई जटिल ऑपरेशन किये थे। अलग-अलग सरकारी अस्पतालों में काम करते हुए महावीरशरण ने मौत से लड़ रहे कई सारे मरीज़ों की शल्य-चिकित्सा की और उनकी जान बचायी थी। सौमित्र ने बताया, "उन दिनों मेरे पिताजी ऑपरेशन कर कैंसर भी निकालते थे। उन्होंने कई मरीज़ों की जान बचायी है। उनके इलाज की वजह से जब कोई मरीज़ ठीक हो जाता था, तब उन्हें बहुत ख़ुशी होती थी। उन्हें यह देखकर बहुत अच्छा लगता था कि उनके इलाज की वजह से एक बीमार इंसान फिर से पूरी तरह ठीक हो गया है।" पिता की इसी ख़ुशी का असर सौमित्र पर कुछ इस तरह से पड़ा कि उन्होंने भी अपने पिता की तरह ही सर्जन बनने का दृढ़ संकल्प ले लिया।

सौमित्र ने पहली कक्षा की पढ़ाई अगरतला में की। इसके बाद उनका दाख़िला दिल्ली के टैगोर गार्डन के केंद्रीय विद्यालय में करवाया गया। यहाँ पर उन्होंने छठवीं कक्षा तक पढ़ाई की। इसके बाद उनका दाख़िला गोल मार्केट के केंद्रीय विद्यालय में करवाया गया। यहीं से उन्होंने दसवीं और बारहवीं की परीक्षा पास की। दिलचस्प बात यह है कि सौमित्र स्कूल के दिनों में भी कभी भी अपनी क्लास में अव्वल नहीं रहे। वे होनहार थे, बुद्धिमान थे और मेहनती भी, लेकिन क्लास में उनका रैंक कभी भी फर्स्ट नहीं रहा।

चूँकि डॉक्टर बनने की ठान चुके थे, उन्होंने ग्यारहवीं और बारहवीं में बायोलॉजी को अपना मुख्य विषय बनाया। बारहवीं की परीक्षा और प्री-मेडिकल टेस्ट में मिले नंबरों के आधार पर उन्हें एमबीबीएस कोर्स में दाख़िले की योग्यता मिल गयी। उन दिनों डॉक्टर बनने के इच्छुक विद्यार्थियों की पहली पसंद नयी दिल्ली का मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज हुआ करता था। प्री-मेडिकल टेस्ट में सौमित्र का प्रदर्शन इतना अच्छा था कि उन्हें मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज में दाख़िला मिल गया। एमबीबीएस कोर्स में दाख़िले के समय सौमित्र की उम्र 18 साल भी नहीं थी। साढ़े सत्रह साल की उम्र में ही डॉक्टरी की उनकी पढ़ाई शुरू हो गयी थी।

सौमित्र ने मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज से एमबीबीएस की डिग्री लेने के बाद यहीं से एमएस (सर्जरी) का भी कोर्स पूरा किया और सर्जन बन गये। सौमित्र ने मौलाना आज़ाद कॉलेज में ही रजिस्ट्रारशिप भी की। सौमित्र कहते हैं, "मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज ने मुझे कम्पलीट डॉक्टर बनाया था। कॉलेज ने न सिर्फ़ मुझे बेस्ट एजुकेशन दी, बल्कि शानदार प्रैक्टिकल नॉलेज भी दी। कॉलेज में हमें समाज-सेवा करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जाता था।"

समाज-सेवा वैसे भी सौमित्र को विरासत में मिली थी। उनके दादा और पिता- दोनों ने अपना जीवन ग़रीब लोगों की सेवा में समर्पित किया। जिस भी तरह से भी मुमकिन होता, वे ग़रीब और ज़रूरतमंद लोगों की मदद किया करते थे। मौलाना आज़ाद कॉलेज के दिनों में ही सौमित्र रोटरैक्ट क्लब से जुड़ गये। रोटरी क्लब की कनॉट प्लेस शाखा से जुड़ने के बाद सौमित्र ने ग़रीब और ज़रूरतमंद लोगों की मदद के लिए दिल्ली और आसपास के इलाक़ों में कई चिकित्सा और स्वास्थ्य शिविर लगाये।

साल 1995 में सौमित्र ने इंग्लैंड जाने का फ़ैसला किया। 1983 से 1995 तक मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज में रहने के बाद सौमित्र ने इंग्लैंड जाकर चिकित्सा के क्षेत्र में आधुनिक और उच्च-स्तरीय प्रशिक्षण लेने का मन बनाया।

1995 में जब सौमित्र इंग्लैंड पहुँचे, तब वहाँ पेट, जिगर, जठरांत्र, आँतों आदि से जुड़ी अलग-अलग बीमारियों के इलाज की नयी-नयी तकनीकें ईजाद की जा रही थीं। सौमित्र को इंग्लैंड में दुनिया की सबसे मशहूर चिकित्सा और शोध संस्था में प्रशिक्षण लेने और काम करने का मौक़ा मिला। इंग्लैंड में सौमित्र ने गैस्ट्रो-इंटेसटीनल और हेपटो-पैनक्रीएतिक कैंसर के इलाज के लिए उन दिनों ही ईजाद की गयी लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक सर्जरी भी सीख ली और इस तकनीक के ज़रिये लोगों का इलाज करते हुए सर्जरी में निपुणता हासिल की। बड़ी बात यह रही कि सौमित्र को विश्वविख्यात शल्य-चिकित्सक डॉ. मैकमोहन से नयी-नयी शल्य-चिकित्सा तकनीकों को सीखने का मौक़ा मिला। इंग्लैंड में मिली शिक्षा और बड़े-बड़े नामचीन चिकित्सकों से मिले प्रशिक्षण की वजह से सौमित्र पेट, जिगर, आँत, अन्नप्रणाली, मलाशय, पाचक-ग्रंथि से जुड़ी बीमारियों और उनके इलाज के बड़े जानकार और सर्जन बन गये। इंग्लैंड में सौमित्र को शे फील्ड, न्यू कैसल और लीड्स के विश्व प्रसिद्ध और अत्याधुनिक तकनीकों से लैस चिकित्सा-संस्थानों से शिक्षण और प्रशिक्षण लेने का भी मौक़ा मिला। अपनी दक्षता के बल पर सौमित्र ने ग्लासगो, एडिनबर्ग, इंग्लैंड और इंटरकॉलिजिएट के दी रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन्स की फ़ेलोशिप भी हासिल की। सौमित्र ने ग्लासगो रॉयल इन्फर्मरी, ईस्ट केशायर एन एच एस ट्रस्ट को परामर्शदाता और क्रिस्टी अस्पताल को मानक परामर्शदाता के रूप में भी अपनी सेवाएँ दीं। सौमित्र रावत को रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन में डॉक्टरी विद्यार्थियों को लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक सर्जरी का प्रशिक्षण देने का भी मौक़ा मिला। उनसे कई सारे डॉक्टरी विद्यार्थियों ने कई सारी बीमारियों और उनके इलाज के बारे में जाना, समझा और सीखा। इंग्लैंड में सौमित्र ने कई बड़ी-बड़ी और नामचीन संस्थाओं को बतौर डॉक्टर, सर्जन, ट्यूटर, शिक्षक और प्रशिक्षक के तौर पर अपनी सेवाएँ दीं। इस दौरान उन्होंने कई विषयों पर काफ़ी शोध और अनुसंधान भी किया। उनके शोध-पत्र दुनिया की मशहूर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। उन्होंने ऑक्सफ़ोर्ड हैंडबुक ऑफ क्लिनिकल सर्जरी और ऑक्सफ़ोर्ड हैंडबुक ऑफ ऑपरेटिव सर्जरी की तैयारी में काफ़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। सौमित्र की गिनती इंग्लैंड ही नहीं, बल्कि दुनिया के श्रेष्ठ सर्जनों में होने लगी थी।

इसी दौरान भारत में हुई एक घटना ने सौमित्र को स्वदेश लौटने पर मजबूर कर दिया। वैसे तो सौमित्र का मन भारत लौटने की चाह बहुत पहले से रखता था, लेकिन कुछ न कुछ कारणों की वजह से वे स्वदेश नहीं लौट पाये थे। लेकिन इस बार कुछ ऐसा हुआ कि उन्होंने ठान लिया कि वे भारत लौट आएँगे और यहीं पर लोगों की सेवा करेंगे।

हुआ यूँ था कि साल 2008 में सौमित्र के पिता महावीरशरण की तबीयत अचानक बिगड़ गयी। उन्हें ख़ून की उल्टियाँ होने लगी थीं। उनकी हालत वाकई ख़राब थी। जैसे ही इस बात का पता सौमित्र को चला, उन्होंने फ़ैसला कर लिया कि वे अब इंग्लैंड में नहीं रहेंगे और भारत लौटकर अपने पिता का इलाज करने के साथ-साथ लोगों का भी इलाज करेंगे। सौमित्र ने बताया, "जब मैंने फ्लाइट पकड़ी थी, तब मन में अजीब-अजीब ख़्याल आ रहे थे। इस बात का भी डर था कि जब तक मैं भारत पहुँचूँगा, तब तक पिताजी ज़िंदा रहेंगे या नहीं रहेंगे। मैंने फ़ैसला कर लिया था, चाहे अब जो भी हो, मैं भारत में ही काम करूँगा।"

ख़ुशी की बात यह रही कि जब सौमित्र इंग्लैंड से भारत पहुँचे, तब उनके पिता ज़िंदा थे। इसे बाद सौमित्र ने जी-जान लगाकर अपने पिता की सेवा शुरू की। जैसे ही पिता की हालत में सुधार हुआ, वे इंग्लैंड गये और वहाँ अपनी सारी ज़िम्मेदारियाँ पूरी कर अलविदा कह दिया। उन्होंने हमेशा के लिए अपनी स्वदेश-वापसी की सारी औपचारिकताएँ भी पूरी कर लीं और सपरिवार भारत लौट आये।

यूनाइटेड किंगडम में क़रीब साढ़े सत्रह साल अपनी सेवाएँ देने के बाद भारत लौटे सौमित्र ने नयी दिल्ली के सर गंगाराम अस्पताल ज्वाइन किया। सर गंगाराम अस्पताल में काम करते हुए सौमित्र ने पेट, जिगर, जठरांत्र, आँतों आदि की बीमारियों के इलाज में इस्तेमाल में लायी जाने वाली विश्व की उत्कृष्ट और अत्याधुनिक चिकित्सा-सेवाओं को भारत में भी शुरू करवाया। उन्होंने भारत में लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक सर्जरी के ज़रिये गैस्ट्रो-इंटेसटीनल और हेपटो-पैनक्रीएतिक कैंसर का इलाज मुमकिन करवाने में अहम भूमिका निभायी। भारत में पहली बार रोबोटिक हेपेटिको-जेजुनोस्टोमी चिकित्सा-पद्धति को अपनाने का गौरव भी सौमित्र और उनकी टीम को ही हासिल है। भारत में पहली बार लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक ओएसोफ़ग्टोमी करने का कीर्तिमान भी सौमित्र के नाम ही है। सर गंगाराम अस्पताल में हुई एक बेहद ख़ास मुलाक़ात के दौरान सौमित्र ने इस लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक ओएसोफ़ग्टोमी के बारे में भी बताया। उनके मुताबिक़, ग्वालियर की एक महिला की गॉल ब्लैडर (पित्ताशय) सर्जरी स्थानीय अस्पताल में की गयी थी। सर्जरी के दौरान बाइल डक्ट (पित्तवाहिनी) को काट दिया गया था। महिला मरीज़ का वज़न भी काफ़ी ज़्यादा था और बाइल डक्ट के कट जाने की वजह से उसकी हालत बहुत ही ख़राब हो गयी थी। महिला को इलाज के लिए सर गंगाराम अस्पताल लाया गया, जहाँ सौमित्र और उनकी टीम ने लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक ओएसोफ़ग्टोमी की, यानी लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक सर्जरी के ज़रिये बाइल डक्ट को दुबारा शरीर से जोड़ा गया था। मामला जटिल था, लेकिन सौमित्र

ने अपने अनुभव और अपनी दक्षता के बल पर सर्जरी की और महिला मरीज़ की जान बचायी।

पूछे जाने पर सौमित्र ने अब तक के अपने डॉक्टरी सफ़र के दौरान किये गये सबसे जटिल ऑपरेशनों के बारे में बताया। पहला बड़ा मामला उस समय का है, जब सौमित्र ग्लासगो रॉयल इन्फर्मरी में कंसलटेंट के तौर पर काम कर रहे थे। गोलीबारी में एक व्यक्ति बुरी तरह से ज़ख़्मी हो गया था। गोलियों ने उसके पेट की हालत बिगाड़ दी थी। छर्रे की वजह से छोटी आँत के चीथड़े-चीथड़े हो गये थे। गोली ने बड़ी आँत को भी बुरी तरह से नुकसान पहुँचाया था। गुर्दे का भी हाल बुरा था। इन्फीरियर वीना केवा (शरीर की एक नस) को भी गोली की वजह से बहुत नुकसान पहुँचा था। मरीज़ की हालत काफ़ी नाज़ुक थी। ऐसा माना जा रहा था कि उस मरीज़ का ज़िंदा बचना मुश्किल है। लेकिन सौमित्र ने मरीज़ का ऑपरेशन किया और गोलियों की वजह से शरीर के भीतर के जिन हिस्सों को नुकसान पहुँचा था, उन्हें ठीक किया। सर्जरी के बाद भी मरीज़ को क़रीब एक हफ़्ते तक आईसीयू में रखना पड़ा था। लेकिन सौमित्र ने जिस शानदार अंदाज़ में सर्जरी की थी, उसकी वजह से मरीज़ की जान बच गयी और कुछ दिनों तक अस्पताल में रहने के बाद वह ठीक होकर अपने घर वापस लौट गया।

एक और ऐसा ही जटिल मामला एक बुर्ज़ुर्ग का था, जो कि एक विश्वविद्यालय के संस्थापक भी थे। इन महाशय को खाने की नली में कैंसर हो गया था। हालत बहुत ही नाज़ुक थी। खाना-पीना भी मुश्किल हो गया था। उम्र की वजह से सर्जरी करना भी आसान नहीं था। ऑपरेशन जोखिमों से भरा था। सौमित्र ने लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक सर्जरी में अपनी दक्षता का यहाँ भी सहारा लिया। लैपरोस्कोपिक और रोबिटिक सर्जरी से सौमित्र ने इस महाशय के कैंसर को शरीर से दूर किया। सर्जरी इतनी साफ़ थी कि उसके एक दिन बाद ही महाशय को अस्पताल से छुट्टी दे दी गयी। इस तरह के हज़ारों जटिल ऑपरेशन सौमित्र ने अपने जीवन में किये हैं। ऑपरेशन करने और मरीज़ों को बीमारियों से मुक्ति दिलाने का सिलसिला बदस्तूर जारी है। इन सब के बीच भी सौमित्र अपने जीवन की पहली सर्जरी को अब भी नहीं भूल पाये हैं।

सौमित्र ने अपनी पहली सर्जरी उस समय की थी, जब वे दिल्ली के मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज में एमबीबीएस की पढ़ाई कर रहे थे। उनकी इंटर्नशिप के आख़िरी दिन थे। मेडिकल कॉलेज के प्रोफ़ेसरों ने सौमित्र को एक मरीज़ का अपेंडिक्स निकालने की ज़िम्मेदारी सौपी थी। कॉलेज के कई सीनियर डॉक्टर सामने खड़े थे। प्रोफ़ेसर परमजीत सिंह बावा भी वहाँ खड़े थे। प्रोफ़ेसर बावा का सभी बहुत

सम्मान करते थे। उनकी देख-रेख में भी कई विद्यार्थियों को सर्जरी की बारीकियाँ सिखायी गयी थीं। सौमित्र ने बड़ी सफाई से मरीज़ के शरीर से अपेंडिक्स निकाल लिया था। ऑपरेशन कामयाब था और सौमित्र को अपने प्रोफ़ेसर से शाबाशी भी मिली थी। अपने पहले ऑपरेशन से लेकर अब सौमित्र ने जितने भी ऑपरेशन किये हैं, उनमें से ज़्यादातर में वे कामयाब रहे हैं। कई लोग हैं जो यह मानते हैं कि उनके हाथों में जादू है और यही जादू लोगों को बीमारियों से मुक्ति दिलवा देता है। लेकिन सौमित्र कहते हैं कि अनुभव, अभ्यास और मरीज़ों को बीमारी से मुक्ति दिलाने का संकल्प उन्हें कामयाब बनाता है।

सौमित्र रावत ने अपने डॉक्टरी जीवन में अब तक लाखों मरीज़ों का इलाज किया है। ऑपरेशन करके मरीज़ों को बीमारियों से मुक्ति दिलवाई है। इलाज करने की प्रक्रिया अब भी निरंतर जारी है। वे हर दिन सर गंगा राम अस्पताल में मरीज़ों की जाँच करते हैं और बीमारी का पता लगाकर उसे दूर करने की कोशिश में लग जाते हैं। उनकी क़ाबिलीयत पर लोगों को इतना भरोसा है कि अलग-अलग देशों से मरीज़ अपना इलाज करवाने के लिए उनके पास आते हैं। पेट, जिगर, आँत, अन्नप्रणाली, मलाशय, पाचक-ग्रंथि से जुड़ी बीमारियों के मरीज़ को जब अलग-अलग जगह इलाज करवाने के बाद भी आराम नहीं मिलता है तब वे आख़िरी उम्मीद लेकर सौमित्र के पास पहुँचते हैं। यही वजह है कि सौमित्र यह कहने से ज़रा भी नहीं हिचकिचाते है कि, "इन दिनों मैं जितने ऑपरेशन कर रहा हूँ, सभी जटिल हैं। मेरे पास ज़्यादातर मामले ऐसे ही होते हैं, जिनका इलाज किसी दूसरी जगह मुमकिन नहीं हो पाता।"

ग़ौर करने वाली बात यह भी है कि सर गंगाराम अस्तपाल में गैस्ट्रोएंट्रोलोजी डिपार्टमेंट में हर साल औसत 17 हज़ार मेजर सर्जरी होती हैं। सर गंगाराम अस्तपाल भारत में जिगर प्रत्यारोपण के अलावा पेट, जिगर, आँत, अन्नप्रणाली, मलाशय, पाचक-ग्रंथि से जुड़ी बीमारियों के इलाज का भारत में बड़ा चिकित्सा केंद्र है। सौमित्र इस कामयाबी का श्रेय ख़ुद नहीं लेते, बल्कि विभाग के संस्थापक डॉ. समीरन नंदी को देते हैं। वे कहते हैं, "जब मैंने इंग्लैंड से भारत आने का मन बना लिया था, तब सर गंगाराम अस्पताल ने मुझे यहाँ आकर काम करने को कहा था, मेरे लिए यहाँ पर ख़ास तौर पर जगह बनायी गयी थी।"

इस बात में कोई दो राय नहीं कि सौमित्र ने भारत में पेट, जिगर, आँत, अन्नप्रणाली, मलाशय, पाचक-ग्रंथि से जुड़ी बीमारियों के इलाज को अत्याधुनिक और बेहद सुरक्षित बनाया। उन्होंने अपनी मेहनत, लगन और इच्छा शक्ति के बल पर भारत में चिकित्सा-पद्धति को नये आयाम प्रदान किये हैं।

बीमार लोगों का इलाज करने के अलावा सौमित्र ग़रीब और ज़रूरतमंद लोगों की मदद करने में भी अपना काफ़ी समय बिताते हैं। अपने दादा और पिता की राह पर चलते हुए वे भी ज़रूरतमंद लोगों की अपनी ओर से हर मुमकिन मदद करते हैं। रोटरैक्ट क्लब की कनॉट प्लेस शाखा के मुखिया के रूप में सौमित्र ने सामाजिक और आर्थिक रूप से कमज़ोर लोगों की मदद करने के लिए संपन्न लोगों को प्रेरित और प्रोत्साहित करना शुरू किया। वे नियमित रूप से ग़रीब बच्चों की आर्थिक रूप भी करते हैं, ताकि वे शिक्षा से वंचित न रह सकें। यह सौमित्र की पहल का ही नतीजा है कि भारत में पहली बार अंतर्राष्टीय स्तर की फ़ेलोशिप की शुरूआत हुई। उन्होंने यह सुनिश्चित किया कि भारत से हर साल एक डॉक्टरी विद्यार्थी एक साल सर गंगाराम अस्पताल और एक साल इंग्लैंड के क्रिस्टी अस्पताल में ट्रेनिंग ले। क्रिस्टी अस्पताल इंग्लैंड में है और यह दुनिया-भर में कैंसर के इलाज का सबसे बड़ा केंद्र है। हर साल एक परीक्षा का आयोजन किया जाता है और इस परीक्षा में अव्वल नंबर पाने वाले को यह अंतर्राष्ट्रीय फ़ेलोशिप दी जाती है। सौमित्र कहते हैं, हर डॉक्टरी विद्यार्थी का यह सपना होता है कि वह इंग्लैंड जाकर प्रशिक्षण ले। लेकिन भारी भरकम ख़र्च की वजह से ऐसा कर पाना मुश्किल होता है। इस अंतरराष्ट्रीय फ़ेलोशिप की वजह से हर साल एक भारतीय विद्यार्थी इंग्लैंड जाकर ट्रेनिंग ले सकता है और उसके इस ट्रेनिंग के बाद मिलने वाली एम.सीएच. की डिग्री की मान्यता भारत में भी होती है। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि क्रिस्टी अस्पताल में ट्रेनिंग के दौरान भारतीय विद्यार्थी को पूरी तनख़्वाह भी मिलती है, जो कि क़रीब 50 हज़ार पौंड होती है।

इसी तरह की सेवाओं और उपलब्धियों की वजह से सौमित्र को अलग-अलग संस्थाओं ने बड़े-बड़े पुरस्कारों से सम्मानित किया है। इन पुरस्कारों में दो पुरस्कार ऐसे हैं, जिन पर सौमित्र को बहुत ज़्यादा गर्व है। इन दो पुरस्कारों में पहला पुरस्कार है, भारत सरकार द्वारा प्रद्दत 'पद्मश्री'। साल 2015 में भारत सरकार ने सौमित्र को चिकित्सा-क्षेत्र में उनके अमूल्य योगदान के लिए 'पद्मश्री' उपाधि से अलंकृत किया था। राष्ट्रपति भवन में 30 मार्च, 2015 को हुए समारोह में राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी के हाथों पुरस्कार लेते समय सौमित्र बहुत भावुक हो गये थे, ख़ुशी से उनकी आँखें नम हो गयी थीं। 56 साल पहले 25, जनवरी, 1959 को उनके दादा ने राष्ट्रपति के हाथों नेशनल अवार्ड लिया था। ऐसे में उनका भावुक होना स्वाभाविक भी था। 'बुंदेलखंड गौरव सम्मान' दूसरा ऐसा पुरस्कार है, जो सौमित्र के दिल के बेहद क़रीब है। वे कहते हैं, "मैं बुंदेलखंड में पैदा हुआ और वहाँ के एक गाँव में पैदा हुआ। मुझे अपनी धरती का सबसे बड़ा सम्मान मिला, यह मेरे

लिए बहुत ख़ुशी की बात है।" यह बात कहने के बाद सौमित्र ने यह भी कहा, "मेरे इलाज के बाद जब मरीज़ ठीक हो जाता है और ख़ुशी से अपने घर जाता है, तब मुझे सबसे ज़्यादा सुख मिलता है।"

इस बेहद ख़ास मुलाक़ात में सौमित्र ने अपने दिल की दो बड़ी ख्वाहिशों के बारे में भी हमें बताया। उनकी सबसे बड़ी ख्वाहिश है कि भारत में ऐसी व्यवस्था बने, जिससे कोई भी मरीज़ रुपयों की कमी की वजह से इलाज से वंचित न रहे। वे कहते हैं, "मैंने इंग्लैंड में कई सालों तक काम किया है। वहाँ पर नेशनल हेल्थ केयर सिस्टम है। इस सिस्टम के तहत हर इंसान का इलाज मुफ़्त में होता है। इंसान चाहे अमीर हो या ग़रीब, हर एक का इलाज मुफ़्त में होता है। मैं चाहता हूँ कि ऐसा ही कुछ भारत में भी हो। देश में कोई भी इंसान ऐसा न रहे, जिसका इलाज सिर्फ़ इस वजह से न हो, क्योंकि उसके पास रुपये नहीं हैं।"

सौमित्र की दूसरी बड़ी ख्वाहिश है कि भारत के लोगों को अपना इलाज करवाने के लिए विदेश न जाना पड़े और भारत में ही हर बीमारी को सही इलाज हो पाये, ऐसी व्यवस्था हो। वे चाहते हैं कि भारत में ऐसी ट्रेनिंग मिले, जैसी ट्रेनिंग अमेरिका और यूरोप में डॉक्टरी विद्यार्थियों को दी जाती है। सौमित्र यह भी चाहते हैं कि अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान जैसा एक बड़ा अस्पताल बुंदेलखंड में भी बने ताकि वहाँ के लोगों को इलाज के लिए दूर-दूर न जाना पड़े।

अपने दादा और पिता से प्रेरणा लेकर कामयाबी की एक शानदार कहानी लिखने वाले सौमित्र से जब यह पूछा गया कि कामयाबी पाने के लिए क्या करना ज़रूरी है, तब उन्होंने कहा, "सबसे पहले तो इंसान को यह तय कर लेना चाहिए कि उसे ज़िंदगी में क्या हासिल करना है। इसके बाद इंसान को अपना लक्ष्य पाने के लिए कड़ी मेहनत करनी चाहिए। ईमानदारी के साथ काम करना चाहिए। मेहनत के बाद भी लक्ष्य हासिल करने में देर हो सकती है, लेकिन इरादा मज़बूत होने से लक्ष्य हासिल हो ही जाता है।" एक सवाल के जवाब में इस विश्वविख्यात शल्य-चिकित्सक ने कहा, "कड़ी मेहनत करते रहने से क़िस्मत भी साथ देने लगती है।"

एक और बात है जो सौमित्र अपने बचपन के अनुभवों के आधार पर ज़ोर देकर कहते है। वे कहते हैं, "कामयाब होने के लिए हर बार 'नंबर वन' पर रहना ज़रूरी नहीं है। इंसान को नंबर वन बनने के चक्कर में नहीं फँसना चाहिए। लक्ष्य तय करना चाहिए और लक्ष्य को हासिल करने के लिए मेहनत करनी चाहिए। मज़बूत इच्छा-शक्ति इंसान को कामयाबी दिलाती है।"